आत्मनेपद

'अज्ञेय'

भारतीय ज्ञानपीठ
काशी

कल्याणीके लिए

निवेदन

कोई भी रचना पूरी हो जानेपर उसके प्रकाशनसे पहले सकोचका एक क्षण आता है, जब कृतिकार एक बार अन्तिम रूपसे उसका मूल्यांकन करता है और इस प्रकार उसे अन्तिम रूपसे अपनेसे अलग कर देता है—कृति तब पाठककी हो जाती है और कृतिकार उससे मुक्त हो जाता है।

जब कृतिके साथ भी संकोचकी ऐसी स्थिति आती है, जिसमे मेरी समझमें कृतिकार आरम्भसे ही अपनेसे दूर होता है क्योंकि वह विभोर होता है, उसीमे डूबा हुआ और तदात्म होता है और अपनेको भूल गया होता है; तब इस पुस्तक जैसे लेखनके साथ वह संकोच उसकी अपेक्षा कितने गुना अधिक न होगा, जिसमें कि न केवल आत्म-विस्मृति नहीं है बल्कि आरम्भसे ही एक अतिरिक्त आत्म-चेतनाका भाव है, क्योंकि सारी पुस्तक ही 'अपने' विषयमे है—अपने व्यक्तिके, अपने जीवनानुभवके, अपनी रचनाकी प्रवृत्तियोंके, अपने विश्वासोंके, और उन सूक्ष्म तत्त्वोंके जिन्हें लेखक अपने कर्मके बुनियादी मूल्य या प्रतिमान मानता है—जिनकी सूक्ष्मता ही उनकी गहराईको सूचित करती है ?

'आत्मनेपद' निस्सन्देह अत्यन्त आत्मचेतन (सेल्फ़-काशस) रचना है। पर आत्मचेतना अनिवार्यतया अहंलीन ही होती हो, ऐसा नहीं है। आत्मचेतन भावसे लिखी गयी होनेके कारण ही पुस्तक लेखककी अहम्मन्यताका प्रमाण हो—बल्कि स्वयं

वैसी अहम्मन्यताका स्वीकार !—ऐसा नहीं है। मैं जानता हूँ कि यह आशा दुराशा मात्र होगी कि इस पुस्तकका प्रत्येक पाठक लेखकके विषयमे किसी भी पूर्वग्रहसे मुक्त होकर इसे पढ़ेगा और पढनेके बाद ही इसकी वस्तुपर और उसकी आधार-भूत मान्यताओंपर अपना मन्तव्य स्थिर करेगा (और, हाँ, उसके लेखकके बारेमे भी, यद्यपि वह सबसे कम महत्त्वकी बात है), फिर भी यह मैं मानना चाहता हूँ कि पाठक यह देख सकेगा कि 'अपने' बारेमें होकर भी यह पुस्तक अपनेमे डूबी हुई नहीं है—कमसे कम इसके लेखककी 'कृतियों' से अधिक नहीं ! इतना ही नहीं, मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि इसके आत्मचेतन होनेके बावजूद इसमें भी तद्‌गत भाव किसी दूसरी रचनाकी अपेक्षा कम नहीं है, और वह 'तत्' लेखकके अहंसे अधिक मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण कुछ है; ऐसा कुछ, जो केवल-मात्र साहित्यकी दृष्टिसे महत्त्व रखता है, जिसके ही साहित्यमे बचे रहने या न रहनेका प्रश्न उठ सकता है, क्योंकि लेखक और उसका अहं तो नश्वर है ही और नश्वरताके नियमसे किसी तरह बच नहीं सकता। (इस लेखकका जो जीवन-दर्शन है, उसमे तो उस नश्वरताको पूरी तरह स्वीकार कर लिया गया है, बल्कि अपने बने रहनेके लिए पुनर्जन्मका हीला भी नहीं छोड़ा गया है····वह तो मानता है कि इसकी नश्वरता ही इसे वह अद्वितीयता देती है जो इसका रस और इसका प्रमाण है।)

यह मैं जानता हूँ कि हिन्दी प्रकाशन-क्षेत्रकी—उस पूरे क्षेत्रको साहित्य-क्षेत्र कहते झिझक होती है यद्यपि साहित्य-क्षेत्र भी उसीकी एक क्यारी तो है ही—समकालीन परिस्थितिमे ऐसी पुस्तक लेकर आना, मानो घमासान युद्धमें कवच उतारकर और

निरस्त्र होकर, मर्म-स्थलोंको जान-बूझकर अरक्षित करके आना है—मार खाने आना है। समझदारी उसे नहीं कहा जा सकता। विवेकको पूरा महत्त्व देते रहनेपर भी, इस तरहकी समझदारी कभी भी मेरे निकट सम्मान्य या वाञ्छनीय नहीं रही; और मार खाते रहनेका मेरा धैर्य दुस्साहस ही माना जाता चला आया है। उसकी कोई ग्लानि मनमें नहीं है क्योंकि मान ले सकता हूँ कि अगर भूल भी मुझसे हुई है तो मार खाकर मैंने उसका शोध कर लिया है! पर इस पुस्तकके प्रकाशनमें उसी दुस्साहसकी आवृत्तिमे अधिक कुछ भी है। और उस प्रकारकी चर्चा अपने विषयमें पहले नहीं की है, अथवा अपने निजी जीवनके विषयमें लोगोंके कुतूहलको जानकर भी अपनेसे दूर रखता आया हूँ, तो आज उसका शमन करना चाहनेकी कुछ सफ़ाई तो अपेक्षित हो ही सकती है। उत्तरमें कहूँ कि कुछ वर्षोंसे लगता रहा है कि यह कुतूहल (जिसे आज भी कुछ अच्छा या स्वस्थ या उचित नहीं मानता हूँ), और अशमित कुतूहलसे उत्पन्न अनेक प्रकारके तनाव, एक दीवार-से मुझे उनसे अलग करते रहे हैं जिन्हींके लिए आख़िर मैं लिखता हूँ। और इतना-भर होता तो भी पाठकोंके वृत्तको और छोटा मानकर भी सन्तोष कर लेता; पर क्रमशः स्पष्ट होता गया है कि उसका दबाव कृतिकार व्यक्तित्वके भीतर भी पहुँचता है और कृतिकर्ममें बाधक बनता है। कृतिकर्मका भी अतिरिक्त मोह मुझे नहीं है; जानता हूँ कि एक दिन यत्किञ्चित् प्रतिभाका भी स्रोत चुक जायगा और कृतिकारत्व भी सूखे पत्ते-सा झर जायगा—और चाहता हूँ कि जिस दिन ऐसा हो उसी दिन इस बातको पहचान सकूँ और उस झर जानेको निराकुल भावसे स्वीकार कर सकूँ—'फूलको प्यार करो, पर झरे तो झर जाने दो'—'एक दिन उस दिन जिसे अपनी

पराजय भी दे सकूँगा समुद, निस्संकोच, उसीको आज अपना गीत देता हूँ'—फिर भी जबतक उस कार्यका दायित्व ओढ़े हुए हूँ, तब तक उसे अंकुठिन रखना चाहता हूँ। अगर वह भीतरी है तो उसे बाहरके आक्रमणसे पंगु नहीं होने देना चाहता : भीतरसे ही जब वह सूख जायगा तब वह उसकी हार नही, निष्पत्ति होगी····

और यह भी कुछ स्पष्ट होता आया है कि यह भी ऐसा क्षेत्र है जहाँ अविरोधसे ही जय हो सकती है। और जब यह स्पष्ट हो गया तो आत्म-चर्चा स्वभावके नितान्त प्रतिकूल रहते भी जो दीख गया है उसे मैंने मान लिया है। इस प्रकार यह निरस्त्र होकर मार खाने सामने आना एक प्रकारका सत्याग्रह ही है। हथियार डाल देना वह नहीं है। वह युद्धके नैतिक स्तरको बदल देनेका ही प्रयत्न है। जहाँ युद्ध होता है, आक्रमण और प्रतिरक्षाका भाव होता है, वहाँ इसका निर्णय सम्पूर्णतया आक्रान्ताके ही हाथमें होता है कि किन अस्त्रोंका प्रयोग होगा—क्योंकि जैसा आक्रमण होगा उसीके अनुरूप तो उसकी काट होगी। जो इस प्रकार आक्रान्ताके वशीभूत नहीं होना चाहता, उसे प्रतिरक्षाका तर्क भी छोड़ना ही पड़ेगा।

इसीलिए, यह जो कुछ है आपके सम्मुख है। इसे मै स्वयं 'मै' भी नहीं कहना चाहता—इसे 'यह' ही मानना चाहता हूँ जिससे कि इसकी निरस्त्रता पूरी हो जाय—ममत्वका तनिक-सा भी कवच उसे न हो।

यहाँतक अकेले नहीं पहुँचा हूँ। जीवनमे बहुत अकेला रहा हूँ, पर जब कहीं पहुँचा हूँ तो पाया है कि अकेला नहीं हूँ, दूसरे भी साथ आये हैं—पहुँचाने आये हैं। इस सौभाग्यके आगे

नतमस्तक हूँ। जिनके सहारे और जिनके साथ यहाँ तक आया हूँ वे पथ-संकेत देनेके कारण गुरुजन तो हैं ही, पर उस अति-रिक्त कृपाके बारेमें क्या कहूँ जिसने मुझे यह दिया है कि वे मेरे प्रणम्य ही नहीं, मेरे प्रिय भी हों? एक शब्दातीत विस्मयके साथ उसे स्वीकार ही किया जा सकता है—ओढ़ा ही जा सकता है....

—'अज्ञेय'

क्रम-सूची

४. सन्दर्भ : स्थिति

५. सन्दर्भ : मन

●

आत्मनेपद

सन्दर्भ : काव्य

मेरी पहली कविता

एक खिलौना होता है जिसे 'फिरकी' या 'फिरकनी' या 'भँवरी' कहते हैं। यह लट्टूकी ही जातिका होता है—अन्तर इतना कि लट्टू लत्तीसे घुमाया जाता है, और यह चुटकीसे। पंजाबकी तरफ़ इसे 'भमीरी' या 'भुमीरी' कहते हैं। 'भँवरी'की तरह ही ये शब्द भी 'भ्रम्' धातुसे निकले हुए हैं। अब तो विलायती गाने वाले लट्टूओं और प्लास्टिककी चकईने इसका स्थान ले लिया, लेकिन मेरे बचपनमें शहरोंमें भी फिरकनियोंका अपना स्थान था। लकड़ीके रंगीन गेंद-बल्लेसे कुछ ही कम महत्त्व पीली या लाल रंगी हुई, खरादकी लकड़ीकी फिरकनीका होता था—और उस पर बने हुए फूलोंकी डिजाइन पसन्द करनेमें बच्चोंका बड़ा समय और मनोयोग ख़र्च होता था!

यहाँ तक पढ़ने-पढ़ते पाठक सोचने लगेगा कि इस पारिभाषिक ऊहा-पोह और संस्मरणका मेरी पहली कवितासे क्या सम्बन्ध है? बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है, जैसा कि अभी प्रकट हो जायगा! लेकिन वह बतानेसे पहले मेरे अपने मनमें जो सन्देह होता है उसीका पहले निवेदन कर देना चाहिए: स्वयं कविताका ही कवितासे क्या सम्बन्ध है? क्योंकि विना इसका निबटारा किये यह कैसे बताया जा सकता है कि मेरी आरम्भकी तुकबन्दियोंमेंसे—या बिना तुककी लययुक्त पंक्तियोंमेंसे—किसे कविता माना जाय? और ऐसी भी तो अनेक रचानाएँ होंगी, जिन्हें कभी कविता माननेकी मूर्खता की थी और जिनका अब स्मरण करते भी झेंप लगती है? इसीलिए बातको मैं यहाँसे आरम्भ करना चाहता हूँ कि कविताके सम्बन्धमें मेरी क्या धारणा कैसे बनी—शब्दका सार्थक, साभिप्राय, रसात्मक प्रयोग किया जा सकता है, यह सम्भावना कैसे मेरे मंनमें उदित हुई····और इसी बातका भँवरीसे—या उसके पंजाबी नाम 'भुमीरी'से—गहरा सम्बन्ध है।

मैं तब शायद चार सालका था—कमसे कम पाँच सालसे अधिकका तो नहीं था जबकी बात है—क्योंकि लखनऊकी बात है जो मैंने पाँच वर्षकी आयुमें छोड़ दिया था। कोई सम्बन्धी बाहरसे आ कर हमारे यहाँ ठहरे थे। हम बहिन-भाइयोंके लिए खिलौने लाये थे। मुझे एक फिरकनी मिली। उसका नाम मैं नहीं जानता था, उन्हींने बताया—'भुमीरी'। मैं उसे बरामदेमें ले गया और चुटकीसे जैसे उन्होंने बताया था उसे घुमाने लगा। दो-एक बार तो वह दो-चार चक्कर काट कर ही लुढक गयी। पर इतनेम उसका गुर मैने पहचान लिया, और फिर तो वह झूमती हुई देर तक घूमने लगी। कौन बच्चा ऐसी विजयपर प्रसन्न न होगा ? मैं भी उसके चारों ओर नाचने लगा। लेकिन नाचना भी काफ़ी नही मालूम हुआ—तब मैंने ताली दे-दे कर चिल्लाना शुरू किया—"नाचत है भूमिरी !" छन्दकी गतिके कारण अनायास ही 'भुमीरी'को 'भूमिरी' बन जाना पड़ा। लेकिन दो-तीन बार पुकार कर ही मैं सहसा रुक गया। चौंककर मैंने जाना कि जो बात मैं कह रहा हूँ, उससे वास्तवमें अधिक कुछ कह रहा हूँ—'नाचत है भूमिरी'—मेरी भुमीरी नाचती है, सो तो ठीक; लेकिन अरी, भूमि भी तो नाचती है—'नाचत है भूमि, री' ! मन ही मन इस द्वयर्थक वाक्यको मैंने फिर दुहराया।—सच तो ! वह मेरी भूल नहीं है—वाक्य सचमुच दो अर्थ देता है—उसमें चमत्कार है ! और फिर मैंने दूने ज़ोरसे चिल्लाकर और नाचकर, ताली देकर, गाना शुरू किया—"नाचत है भूमिरी" "नाचत है भूमि, री !" इससे आगे शब्द नहीं मिले, पर उस समय मैंने जाना कि मेरी भँवरी ही नहीं, भूमि भी नाचती है—सारा विश्व-ब्रह्माण्ड नाच रहा है—मैंने एक साधारण वाक्यसे एक असाधारण अर्थ निकाल लिया है—मैं आविष्कारक हूँ, स्रष्टा हूँ ! मैने शब्दकी शक्तिको पहचान लिया है, पहचान ही नहीं, स्वायत्त कर लिया है—और शब्द शक्ति ही तो आद्या है। **'इन द बिगिनिग वाज़ द वर्ड, एण्ड द वर्ड वाज़ गॉड' (आदिमें शब्द था और शब्द ही ईश्वर था)**···

पाठक हँस सकता है। आज मैं भी हँस सकता हूँ। लेकिन इस बोधसे उस दिन जो रोमाञ्च हो आया था, उसकी छाप आज भी मुझपर है—और उस दिनसे मैं कभी नहीं भूला हूँ कि शब्द शक्तिका रूप है, कि शब्दका सार्थक प्रयोग सिद्धि है। इसलिए, मेरी पहली कविता कौन-सी थी, इस प्रश्नके उत्तरमें यह बाल्य-कालीन अनुभव प्रासंगिक तो है ही, भले ही वह वाक्य कविता न रहा हो। इसीलिए मैंने जिज्ञासा की थी कि कविताका ही कवितासे क्या सम्बन्ध है!

अनुप्रास और लय—इनकी पहचान अपेक्षया सहल भी होती है, सहज भी : अबोध शिशु लोरियाँ सुनकर ही इन तत्त्वोंको पहचानने लगता है। और इनके बोधमें अभिभूत करनेवाला वह तत्त्व नहीं होता जो शब्दकी अर्थ-बोधन-क्षमताको पहचाननेसे होता है—वह एक दूसरी ही कोटिका बौद्धिक आनन्द है....

कुलपरम्परानुकूल मेरी पढ़ाई रटन्तसे आरम्भ हुई : गायत्री-मन्त्र और अष्टाध्यायीके साथ-साथ मुझे अपने वयोवृद्ध गुरुकी स्नेहभरी पण्डिताऊ गालियाँ भी अभीतक याद हैं। लेकिन प्रबुद्ध-चेता पिताने 'स्वौजसमौट्छ-ष्टाभ्यांभ्यस्....ङसोसाम्ङिओस्सुप्' को रटाईके साथ-साथ अँग्रेज़ीकी मौखिक शिक्षा भी आरम्भ करवा दी थी, और अक्षर-ज्ञानसे पहले ही मैं दो-ढाई सौ अँग्रेज़ी शब्द सीखकर वह भाषा वैसे बोलने लगा था जिसे 'फर्र-फर्र अँग्रेज़ी' कहते हैं। अँग्रेज़ीमें ही कुछ हलकी कविताएँ और तुकबन्दियाँ रट लीं थी—हमारा दुर्भाग्य था कि हिन्दीमे बाल-साहित्य तब लगभग नहीं था—अब भी कुछ बहुत या अच्छा हो, ऐसा नहीं है। तो अँग्रेज़ी तुकसे प्रेरणा पाकर अँग्रेज़ीके सहारे ही लोगोंको चिढ़ानेवाली कुछ तुकबन्दियाँ भी की थीं—और एक-आध बार बड़ोंकी इस अवमाननाके कारण दण्ड भी पाया था! स्पष्ट है कि इन्हें कविता नहीं कहा जा सकता—लेकिन 'वागर्थ-सम्पृक्ति'के ज्ञानके बाद अगला क़दम तो छन्द:परिचय ही है!

यह छठे वर्षकी बात है। इसके बाद न जाने क्यों कई वर्षोंका अन्तराल

है, जिसमें और बहुत-कुछ जाना-सीखा, बहुत-सी दिशाओंमें आगे बढ़ा, पर कवितासे कुछ परिचय बढ़ा हो ऐसा नहीं याद पड़ता। ग्यारहवें वर्षमें एक ओर टैनिसनकी कवितासे परिचय हुआ, तो दूसरी ओर असहयोगके पहले दौरसे और तत्कालीन 'प्रिंस आफ़ वेल्स'की भारत-यात्राके बहिष्कारके आन्दोलनसे। इसी समय स्वामी दयानन्दकी गङ्गाको लक्ष्य करके लिखी हुई उद्‌बोधनात्मक कविता भी पढ़ी :

गङ्गा उठो कि नींदमें सदियाँ गुज़र गयीं,
देखो तो सोते-सोते ही बरसें किधर गयीं।

इन सबकी सम्मिलित प्रेरणासे मैंने भी गङ्गाकी एक स्तुति लिखी थी जो अनन्तर गङ्गा मैयाको ही भेंट चढ़ गयी। वह मुझे स्मरण होती तो पहली कविताके नामपर कदाचित् उसीका उल्लेख उचित होता—किन्तु एक तो यह अँग्रेज़ीमें थी, दूसरे कविता याद न होनेपर भी इतना तो याद है कि इसके छन्दपर, भाषापर, शैलीपर, टेनीसनकी गहरी छाप थी!

इन्हीं दिनों पिताके साथ उटकमंड चला गया। मै स्वभावसे भी एकान्त-प्रिय था, और परिस्थितियाँ भी अकेला रखती आयी थीं—पर उटकमंडसे तीन मील दूर फ़र्नहिल नामक स्थानके एक बँगलेमें रहकर तो मानो एकान्तमें डूब ही गया—यद्यपि प्रकृतिके स्पन्दन-भरे एकान्तमें; जिसमें इस बातकी चिन्ता नहीं थी कि परिवारके बाहर कोई भी हमारा एक शब्द भी समझने वाला न था, न हम किसीका एक भी शब्द समझते थे! इसी एकान्त-कालमें मैंने पहले चित्र संग्रह करना शुरू किया—मुख्यतया अवनीन्द्रनाथ ठाकुर और उनके नव-बंग सम्प्रदायकी शिष्य-परम्पराके चित्र—और उनके एलबम बनाये। यहीं एक दिन सहसा पाया कि मैंने एक हस्तलिखित पत्रिका निकाल दी है—**'आनन्द-बन्धु'**! और इस पत्रिकामें पहले पृष्ठपर कवितासे लेकर अन्तमें सम्पादकीयके बाद चित्र-परिचय तक सब-कुछ था—जैसा कि उससे पहलेके वर्षोंकी 'सरस्वती'में हुआ करता था—स्वर्गीय

महावीर प्रसाद द्विवेदीके सम्पादकत्वमें ! पहले अकमें तो कविताके नाम-पर गुप्तजीकी

नीलाम्बर-परिधान हरित-पटपर सुन्दर है

वाली स्वदेश-वन्दना दी गयी थी, पर दूसरे अंकसे समझमें आने लगा कि इस प्रकार उद्धृत सामग्री देना सम्पादन-कलाके विरुद्ध है। दूसरे अंकमें बड़े भाइयोंसे भी सामग्री प्राप्त की : एकने तो डयूमाके **'काउण्ट आफ़ मांटेक्रिस्टो'**के आधारपर हिन्दी धारावाही कथाकी पहली किश्त दी, दूसरेने उस समय याद नहीं क्या। पर कविता उस अकमे मेरी ही गयी। यह भी पूरी मुझे याद नहीं है; पर उन्हीं दिनों श्री शिवप्रसाद गुप्त की **'पृथ्वी-प्रदक्षिणा'** निकली थी, जिसमे अमरीकाके नयागरा प्रपातको दी गयी कन्या-वलिका उल्लेख था—उसी कहानीसे प्रभावित होकर उसीपर कविता लिखी गयी थी⋯⋯**'आनन्द-बन्धु'**का पहला अंक तो बहिन-भाइयोंने ही देखा था, दूसरा पिताजीने भी : उनसे इस कवितापर मुझे पाँच रुपये पुरस्कारमे मिले थे। इस पूँजीपर अगले चार वर्ष तक आनन्द-बन्धु चल सका⋯⋯मेरे सम्पादनके अनुभवोंमे कदाचित् यही सबसे प्रीतिकर है—उसके बाद न तो कभी इतना कम ख़र्च हुआ, न इतनी बालानशीनी नसीब हुई !

इन्हीं दिनों गुप्तजीकी कविताके अतिरिक्त मुकुटधर पाण्डेय, श्रीधर पाठक, 'हरिऔध', रामचरित उपाध्याय और आराके 'प्रेमयोगी' देवेन्द्रकी कवितासे परिचय हुआ। इन सबसे छन्दोंके बारेमें कौतूहल बढ़ा। रोला और वीर तो हिन्दीके अति-परिचित छन्द हैं, जिनसे कौन हिन्दी कवि बचा होगा; और गुप्तजीकी कृपासे हरिगीतिका और गीतिका पर भी हाथ साफ़ करनेका साहस हुआ। लेकिन कुछ संस्कृत छन्दोंने भी आकृष्ट किया। 'हरिऔध' की यशोदाका विलाप पढ़कर मैंने मालिनी छन्दमें कई एक विलाप लिखे थे—राधाका, प्रवत्स्यत्पतिका वीर-वधूका, इत्यादि। मन्दाक्रान्ता तब इतना अच्छा ,नहीं लगा था जितना बादमें लगने लगा,

पर 'शिखरिणी' पर मैं मुग्ध था—विशेषकर पिताजीके पढ़े हुए **'महिम्न-स्तोत्र'**के कारण। लेकिन ये छन्द कभी मुझसे सधे नहीं, और पीछे बरवैके आकर्षणमे अपनी असफलताका दुःख भी भूल गया।

'आनन्द-बन्धु' के कुछ अंक अभी मेरे पास हैं। जब कालेज आया, तो कालेजी विद्यार्थीकी नयी अहंमन्यताके कारण मैंने कई अंक नष्ट कर दिये, केवल कुछ एक रखे जो 'अच्छे' समझे। बादमें कई वर्ष बाद उन्हें फिर देखा तो कुछ ऐसे कौतूहलप्रद लगे कि फिर रख ही छोड़े! इनमें एक और अंकमें एक रचनापर पिताजीके बन्धु रायबहादुर हीरालालसे पुरस्कार मिला था—लेकिन यह रचना गद्य-पद्यमयी थी, और इसमें अपने ही परिवारके सब लोगोंका कौतुकपूर्ण परिचय दिया गया था। **'आनन्द-बन्धु'** का पाठक-वृत्त पीछे काफ़ी बढ़ गया था—और वह दो भाषाओंमें निकलने लगा था—अंग्रेज़ी अंश तो टाइप भी हो जाता था! इन पाठकोंमें पिता जीके कुछ मित्र और सहयोगी भी थे, जिनकी समालोचनाओंसे मुझे बड़ी सहायता मिली।

कहानी तो इन दिनों तक एक छप भी चुकी थी—इलाहाबादकी एक बालचर-पत्रिका **'सेवा'**में, पर कविता पहले-पहल लाहौरमें अपने कालेजकी पत्रिकामें छपी। यह जिस समय लिखी गयी, उस समय मैं अंग्रेज़ी **'गीतांजलि'**के प्रभावमे उसी ढंगके रहस्यवादी गद्य-गीत भी लिखने लगा था—जो दैव-कृपासे कभी छपे नहीं, और मेरे जेल-प्रवासके दिनों न जाने कहाँ खो-खा गये। लेकिन तुक-तालयुक्त कविताएँ उन्हीं दिनों छपी थीं। पहली कविता अब **'चिन्ता'**में संगृहीत है, और मन होता है कि स्वयं न बताकर लोगोंसे पूछा करूँ, 'बताइए वह कौन-सी होगी?' जैसे टेनिसन **'मॉड'** कविताकी पंक्तियाँ

बर्ड्स इन द हाइ हॉल गार्डन
वेयर क्राइंग एण्ड कॉलिंग

'मॉड, मॉड, मॉड, मॉड,'
दे वेयर क्राइंग एण्ड कालिंग

सुनाकर पूछा करते थे—'बताइए तो कौन पक्षी थे वह ?'....लेकिन बता ही दूँ, **'चिन्ता'** की छठी कविता है, जिसका आरम्भ है—**'तेरी आँखोंमें क्या मद है...'** और अन्त है—**'जिसको लिखकर तेरे आगे हाथ जोड़ रह जाता हूँ।'** मेरा अनुमान है कि इसपर श्री ठाकुरकी **'गीतांजलि'**का प्रभाव परोक्ष रूपसे रहा ही, क्योंकि किन्हीं भी आँखोंके मद की महक भी तब तक पहचानी हो, ऐसा याद नहीं पड़ता। ये भाव कल्पित ही अधिक थे, अनुभूत कम !

इन दिनों कहानियाँ भी लिखीं। इसी समय गुप्त आन्दोलनसे भी सम्बद्ध हो गया, और तब कहानियाँ ही अधिक लिखीं—एक उपन्यास भी, जो अनन्तर किसी सहयोगीके पास पकड़ा गया था और फिर खुफ़िया पुलिसके दफ़्तरोंमें ही कहीं डूब गया, जहाँ अभी तक डूबा हुआ है ! लेकिन जेल जानेके बादसे ज़ोरोंसे लिखना शुरू किया। उपन्यास, कहानी, कविता, निबन्ध—सभी कुछ। इनसे अभी अवकाश लिया तो पुस्तकोंका अनुवाद करने बैठ गया। इस समयसे फिर लेखनका क्रम बराबर चलता रहा। इसलिए पुराना या 'बुजुर्ग' लेखक होनेके मोहमें न पड़कर मैं अपने रचना-कालका आरम्भ तभीसे मानता हूँ। और इसी शृंखलाकी पहली कविताको ही पहली कविता कहना भी न्याय-संगत होगा। आप कहेंगे, ऐसा ही था तो इतनी लम्बी भूमिका क्यों बाँधी, पहले ही कह दिया होता—लेकिन एक तो वह पहली कविता मुझे याद नहीं है, दूसरे ऐसे मामलोंमें असल बात तो भूमिका होती है, नहीं तो कवितामें भला क्या रखा है ! फरहादने पहाड़ खोदकर कौन-सी चुहिया निकाली थी, यह किसे याद है—सब पहाड़ खोदनेकी बातको लेकर ही तो मुग्ध हैं। लेकिन इस क्रमकी ठीक पहली कविता कौन-सी है, यह याद न होनेपर भी पहली दो-चारमें-से एक तो बता ही सकता हूँ। बल्कि वह यहाँ उद्धृत भी की जा सकती है।

वह ठीक पहली नहीं है, ऐसा भी मैं नहीं कह सकता—हो भी सकती है; और हो, तो मुझे अच्छा भी लगेगा—क्योंकि बाईस साल बाद आज भी वह मुझे अच्छी ही लगती है—यद्यपि उसकी भाषा बड़ी अटपटी है। और उसकी वस्तुपर रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी छाप कुछ पड़ी थी या नहीं यह भी नहीं कह सकता। जो हो, कविता यह है :

दृष्टि-पथसे तुम जाते हो जब।

तव ललाट की कुञ्चित अलकों—
तेरे ढरकीले आँचल को,
तेरे पावन चरण कमल को,
छू कर धन्य-भाग अपने को लोग मानते हैं सबके सब।
मैं तो केवल तेरे पथ से
उड़ती रजकी ढेरी भरके,
चूम-चूम कर संचय करके
रख भर लेता हूँ मरकत-सा मैं अन्तर के कोषों में तब।
पागल झंझा के प्रहार-सा,
सान्ध्य-रश्मियोंके विहार-सा,
सब कुछ ही यह चला जायगा—
इसी धूलिमें अन्तिम आश्रय मर कर भी मैं पाऊँगा दब!

दृष्टि-पथसे तुम जाते हो जब।

आज यह सहज विश्वास भी कठिन है, और विश्वास हो तो इसकी ऐसी सहज उक्ति और भी कठिन; इसलिए यह याद करके सन्तोष ही होता है कि एक समय ऐसा था जब न तो विश्वास कठिन था, न उसकी सहज अभिव्यक्ति—और उसी समयमें मैंने पहली कविता लिखी थी····

●

प्रवृत्ति : अहंका विलयन*

मेरे एक मित्र कहा करते हैं कि अगर अंग्रेज़ी न पढ़ा हुआ कोई व्यक्ति आधुनिक अंग्रेज़ी कवितासे परिचय पाना चाहे, तो उसे 'अज्ञेय'-की कविता पढ़नी चाहिए। वह मेरे मित्र हैं, इसलिए व्यंग्य करनेका उन्हें अधिकार है, और वह उनका उद्देश्य भी है, फिर भी मै मानता हूँ कि उनकी बातमें सार है। यह नहीं कि इससे मैं प्रकारान्तरसे अपने आधुनिक होनेका दावा कर रहा हूँ, यह भी नहीं कि इससे आधुनिक अंग्रेज़ी कविताके विषयमें जो धारणा बनती है उसे मै सही मान रहा हूँ; केवल यही कि इससे कुछ तो मेरा उद्देश्य स्पष्ट होता है, और कुछ मेरे काव्यकी मर्यादाएँ इंगित हो जाती हैं—उन मर्यादाओंको आप गुण कहे, या विशेषता या केवल दोष, यह आपकी रुचि और मतिपर निर्भर है।

दृश्य, श्रव्य, बोध्य

आधुनिक काव्यमें 'दृश्य' और 'श्रव्य' का पुराना भेद कम महत्त्व रखने लगा है। यों तो प्राचीन काव्यमे भी चित्र-काव्य होता ही था और अभी तक छन्दःशास्त्रोंमें उसके उदाहरण देनेकी परिपाटी है, पर आधुनिक कवितामें दृश्य और श्रव्यके भेद मिटानेके बहुतसे साधन बरते जाते हैं। मैंने उनका उपयोग लगभग नहीं किया है, न मै उन सबका समर्थन कर

★विभिन्न अवसरोंपर रेडियोसे कविता-पाठके साथ व्याख्या-रूपेण जो कुछ कहा जाता रहा, उसका एक कलन। प्रस्तुत वस्तु तीन प्रसारणोंपर आधारित है, जो सन् १९४९–५१ में इलाहाबादसे हुए थे। इनकी पृष्ठिका सन् १९४७–५० की अर्थात् मुख्यतया 'हरी घास पर क्षण भर' की कविता थी।

रहा हूँ। उनका उल्लेख भी कर रहा हूँ तो यह निष्कर्ष निकालनेके लिए कि आधुनिक कविता न केवल दृश्य यानी दृष्टिगम्य है, न केवल श्रव्य यानी श्रवणगम्य। उसका प्रयास है कि वह सीधी-सीधी बोधगम्य हो। उसे सफलता मिलती है कि नहीं, मिल सकती है कि नहीं, यह और बात है—उसका उद्देश्य यह है। वह सीधी चेतनाको छूना चाहती है, इसलिए निरे शब्दोंके निरे अर्थसे आगे जाकर वह ध्वनियों और अन्तर्ध्वनियों, स्वरों और अन्तःस्वरोंसे उलझती है, और संवादी और विवादी स्वरोंको लेकर अन्वेषण करती है। आप चाहें तो कह लें कि वह एक साथ दो विरोधी दिशाओंमें चलती है—एक तरफ़ वह छन्दके बन्ध तोड़ती है तो दूसरी तरफ़ वह संगीत यानी गेयतत्त्वको अधिक अपनाना चाहती है।

यह तो हुई आधुनिक और शास्त्रीय काव्यके उद्देश्यगत भेदकी बात। भारतीय और यूरोपीय काव्य-शिल्पमें एक अन्तर यह भी है कि अनुप्रासका प्रयोग तो हमारी कवितामें—यों भी और अर्थ-पुष्टिके लिए भी—होता है, पर स्वरोंकी शक्तिका उतना नहीं, जब कि अंग्रेज़ी काव्यमे अनुप्रास घटिया अलंकार है और अभिव्यंजनाके लिए स्वरोंका भरपूर उपयोग होता है।

आधुनिक कवितापर मनोविज्ञानकी गहरी छाप है। क्यों? क्योंकि व्यक्ति और उसकी परिस्थितिमें इतना कम सामजस्य, इतना तीखा विरोध, कभी नहीं हुआ; और उस विरोधके दबावकी कविके मनपर गहरी छाप है। इतनी गहरी, कि वह उसे सीधे-सीधे व्यक्त भी नहीं कर पाता है, केवल ध्वनित करता है, केवल एक संकेत देता है जिससे हम आगे बढ़ कर उसे देख सकें। एक सौन्दर्य होता है जो बाहर फुलवाड़ीमें बैठता है, एक होता है जो घरमें रहता है और अतिथियों द्वारा देखा जा सकता है; एक और होता है जिसे हम बन्द कमरेकी खिड़कीसे आते हुए आलोकको देख कर अपनी संवेदनाके सहारे ही मूर्त्त कर लेते हैं। मानसिक तनावसे धनुषकी प्रत्यंचा-सी तनी हुई, अन्तर्जीवनकी तीखी चेतनासे स्वर-सी संयत, लेकिन

जीवनकी विविधताके बोधसे विशृंखल होती हुई भी—आजकी कविताका सौन्दर्य इस तीसरी कोटिका ही सौन्दर्य है। * * *

उपयोगिता : कविकी, कविताकी

मेरी कविता 'हिन्दीमें लिखी गयी अंग्रेजी कविता' है, ऐसा कह कर कुछ लोग समझते हैं कि उन्होंने प्रशसा की है, कुछ समझते है कि यह निन्दा है। मैं तो नहीं समझता कि मेरी कवितामें ऐसा कुछ है जो कि भारतकी ही काव्य-परम्परा द्वारा अनुमोदित न हो सकता हो। पर जैसा कि सर्वदा होता आया है और होता रहेगा, एक-एक युगकी कविता काव्यके उन्हीं सर्व-सम्मत गुणोंमें-से एक-एकको अधिक महत्त्व देती आयी है और दूसरोंको गौण मानती आयी है। कभी शब्द-संगीत ही सब कुछ हो जाता है, कभी अर्थ-गौरव, कभी व्यजना और ध्वनिके विना कविता घटिया मानी जाती है और कभी कवितामे समाजकी आलोचनाको ही एक मात्र उद्देश्य माना जाता है। आज एक वर्ग ऐसा भी है जो कविताको न केवल समाज-शास्त्रका आनुषंगिक मानता है, बल्कि समाजकी आलोचना भी सीधे-सीधे छन्दोबद्ध अभिधामें माँगता है। कहना चाहिए कि यह कविताकी आधुनिक दुर्गति है; दुर्गति भी हर कालमें होती आयी है जैसे कि साधना और खोज।

मै शायद इस प्रवाहसे कुछ अलग पड़ गया हूँ—जिसमें मेरे सौभाग्य और दुर्भाग्य दोनों हैं। मैंने कविताका उपयोग करना नहीं चाहा, क्योंकि मैंने नहीं माना कि मेरे उपयोग करना चाहनेसे वह उपयोगी होती है। मैं मानता हूँ वह तब उपयोगी होती है जब मैं स्वय उपयोगी हूँ; उसमे जीवनकी पूर्णता तब है जब मैंने पूर्ण जीवनके प्रति अपनेको समर्पित किया है। दुहाई देनेसे ही कविता नही निकलती। और अपने प्यारके बदले अपनी भूखका दुखड़ा रोनेसे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता, केवल श्रोताके लिए वह दुखड़ा और भी कम प्रीतिकर हो जाता है।

सपने मैंने भी देखे हैं—
मेरे भी हैं देश जहाँ पर
स्फटिक-नील सलिलाओंके पुलिनों पर
सुन-धनु सेतु बने रहते हैं।....
आज अगर मैं जगा हुआ हूँ अनिमिष—
आज स्वप्न-वीथीसे मेरे पैर अटपटे भटक गये हैं—
तो वह क्यों ? इस लिए कि आज
प्रत्येक स्वप्न-दर्शीके आगे
गतिसे अलग नहीं पथकी यति कोई—
अपनेसे बाहर आनेको छोड़
नहीं आवास दूसरा !
भीतर—भले स्वयं साईं बसते हों।
पिया-पियाकी रटना !
पिया—न जाने आज कहाँ हैं,
सूली पर जो सेज बिछी है, वह—
मेरी है !

छोटी कविता : भाव-संहति और भाव-समुच्चय

मैंने कहा कि अलग पड़ जाना मेरे लिए दुर्भाग्य और सौभाग्य दोनों हैं। पर दुर्भाग्य शायद नहीं कहना चाहिए—क्योंकि उससे जो कष्ट होता है और जो विरोध मिलता है वह एक तरहसे मेरे लेखनको माँजनेमें मदद ही करता है। और सौभाग्य भी कदाचित् नहीं कहना चाहिए, क्योंकि अकेलेपनमें कभी-कभी जैसी सहानुभूति मिलती है उससे गड़ जाना पड़ता है ! मेरी एक पिछली कविता-पुस्तककी जब कापी तैयार हो रही थी, तब एक बन्धु पढ़नेके लिए उसे माँगकर ले गये थे। वह सम्पादक भी थे, इसलिए उन्होंने सोचा, लगे हाथ कुछ सामग्री भी जुटा ली जाय, क्योंकि

आजकलके कवि आसानीसे तो काबूमें आते नहीं। लिहाजा उन्होंने कुछ कविताएँ छाँटकर नकल कर लीं। पुस्तकका एक भाग किसीको समर्पित किया गया था जिन्हें मैं 'कैरा' नामसे जानता था और जिनतक मेरी वाणी कठिनाईसे ही पहुँच पाती। बन्धुने अढ़ाई पंक्तिके समर्पण-वाक्यको भी कविता मानकर विना मुझे बताये छाप दिया। मैंने तो जब देखा तब हँस लेना काफ़ी समझा, लेकिन अनन्तर सुना कि उसे लेकर गरमागरम बहसें हो जाया करती हैं। और जिन बन्धुने वह छापा था (उनकी दृष्टिसे छापी थी !) वह मुझे और सब तरह अपात्र मान कर भी (क्या सभी स्नेह-पात्र अपात्र नहीं होते !) उन अढ़ाई पंक्तियोंके वाक्यको अभी तक कविता ही मानते हैं जिसे मैंने भी गद्य ही समझ कर लिखा था।

इस विपयान्तरका कारण है। मैंने कुछ बहुत छोटी-छोटी कविताएँ लिखी हैं। छोटी कविताको महत्त्व भी देता हूँ। 'नावकके तीर' वाली बात ही नहीं है, यों भी मैं मानता हूँ कि भावना-प्रधान कविता छोटी ही हो सकती है, नहीं तो अपने भावोंका 'पैरा.फ्रेज़' होने लगता है। **'जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तकमें स्मृति-सी छायी'** वह एक आँसू बनकर आये, यहाँ तक तो ठीक है; किन्तु जब वह बरसातकी झड़ी-सी बरसने लगती है तब वह शायद वही पीड़ा नहीं रहती, और घनीभूत तो भला रह ही कैसे सकती है ! लम्बी कविताएँ भी होती हैं, हो सकती है, अच्छी भी हुई हैं; पर उनको कलात्मक एकता और गठन देने वाली चीज़ फिर दूसरी हो जाती है—भावकी संहति और तीव्रता नहीं। वह ढंग दूसरा है, और कहूँ कि मेरा वह नहीं है। छोटी कविताओंका अर्थ ग़लत भी समझा जा सकता है, (और बिलकुल नहीं भी समझा जा सकता है) लेकिन ऐसा हो तो वह अनिवार्यतया कविताका ही दोष है, ऐसा क्यों माना जाय ? 'किताब और खोपड़ीके टकरानेसे खोखली ठंकार हो तो क्या सदैव किताब ही दोषी होती है ?'

* * *

नीति और आचरण के मान

हमारा देश गाँवोंका देश है, यह पुरानी बात है। लेकिन सभ्यताकी प्रगति देशका जीवन-रस खींचकर शहरोंमें भर रही है। (और राजनीति की प्रगति शहरोंके सभ्य जीवनकी कारयित्री प्रतिभाको महानगर या राजधानीमें केन्द्रित कर रही है, मिट्टीकी उर्वरा-शक्तिका स्थान रासायनिक खाद ले रही है, नदी-झरनोंका काम नहरें करने लगी हैं।) इसके कारणोंमें यहाँ न जाना होगा, यहाँ इतना कहना यथेष्ट है कि गाँवोंकी संस्कृति जिन नैतिक मान्यताओंके साथ बँधी थी, शहरोंकी सभ्यतामें उनके लिए स्थान नहीं है, और उनके बदले कोई दूसरे मान स्थापित किये गये हों ऐसा भी नहीं है। ऐसे लोग हैं जो कह देंगे कि गँवई संस्कृतिके नैतिक मान सामन्त-कालके थे और अब उनका कोई मूल्य नहीं है, लेकिन इससे कमसे कम मेरी तसल्ली तो नहीं होती, क्योंकि आचरणके मान बदलने पर भी नीतिकी आवश्यकता नहीं मिटती; निरी अवसरवादिता सांस्कृतिक आदर्श नहीं है, फिर वह चाहे किसी भी वर्गकी क्यों न हो! ★ ★ ★

अन्तिम उक्ति—मौन

आजका कवि पाता है—और अगर नहीं पाता है तो मैं कहूँगा कि उसे पाना चाहिए—कि व्यंजनाके पुराने साधन पर्याप्त नहीं है। कवि नयी सूझ, नयी उपमाएँ, नया चमत्कार कवितामें लाता है। ये धीरे-धीरे परिचित हो कर हमारी भाषाको सम्पन्नतर बनाते हैं—लेकिन स्वयं मर जाते हैं; उनका चमत्कार अति-परिचयके जंगसे मैला हो जाता है। भाषाओंके बढ़नेका यही नियम है, हमारी बोलीके एक-एक शब्दके पीछे ऐसे कितने मृत और ध्वस्त चमत्कारोंका इतिहास है, इसे वे समझते हैं जिनका भाषाकी ओर ध्यान है—और आज भाषा-संक्रान्तिके इस कालमें उधर ध्यान दिये विना कौन रह सकता है ?

तो व्यंजनाके नये माध्यमकी खोजमें, अगर कभी कवि पाता है कि उसे

जो कहना है, वह मौन ही में कहा जा सकता है, तो क्या वह बिलकुल भूला है ? क्या इसमें वह सन्तों-मनीषियोंके साथ नहीं है—क्या स्वयं प्रकृतिके साथ नहीं है ? नाद अगर आकाशका, शून्यका गुण है, तो उसकी सम्पूर्ण-तया मुक्त अभिव्यक्तिका क्षेत्र और कौन-सा हो सकता है—सिवा नीरवताके ?

* * *

व्यक्तित्व और अहंका विलयन

किसी कविकी कवितामें प्रवहमान अन्तर्धाराएँ क्या हैं, यह पहचानना वास्तवमें कविका नहीं, आलोचकका काम है । यह आजके कविका दुर्भाग्य ही मानना चाहिए कि उसे इन अन्तर्धाराओंके—अपनी कविताकी प्रवृत्तियोंके—बारेमें जब-तब कुछ कहना पड़ता है—या बाध्य होकर कहना नहीं पड़ता तो भी कहनेके अनेक अवसर दिये जाते हैं, और परिस्थितिगत प्रोत्साहन तो मिलता ही रहता है । लेकिन उसके दुर्भाग्यमें भी किसी हद तक कविता का कल्याण छिपा है, क्योंकि कविका दुर्भाग्य कविताके दुर्भाग्यसे अलग नहीं है, और वास्तवमें आधुनिक कविताकी विशेषता यह है कि वह कविके व्यक्तित्वके साथ अधिकाधिक बँधी हुई होती जा रही है । काव्य-रचनाका—किसी भी कला - सृष्टिका—अधिकार तभी आरम्भ होता है जब व्यक्तित्वका सम्पूर्ण विलयन हो जाय, यह मानना तो दूरकी बात रही, आजका कवि साधारणतया इतना भी नहीं मानता कि कविता, या कि कला-सृष्टि, व्यक्तिके विलयनका माध्यम है; कि कविताके द्वारा कवि व्यक्तिको बृहत्तर इकाईमें विलीन कर देता है। आजका कवि तो कविताको वरंच व्यक्तित्वकी, व्यक्तिके अहंकी, प्रखरतर अभिव्यक्ति और उस अहंको पुष्ट करने वाली रचना मानता है । मैं कहूँ कि इस चरम कोटिका आधुनिक कवि मैं नहीं हूँ, अधिकसे-अधिक उस श्रेणीमें हूँ जो कविताको अहंके विलयनका साधन मानते हैं । बल्कि सच कहूँ तो इतना भी इस लिए कि मैं युगकी सीमाको इस हद तक स्वीकार करता हूँ, और उसमें बद्ध होनेको विवश हूँ । नहीं तो यह मुझे सर्वथा

स्वीकार्य है कि प्राचीन कवियोंकी महत्ताका असल रहस्य यही है कि वे अहंको विलीन करके ही लिखते थे, उनके लिए कविता स्वास्थ्य-लाभका साधन नहीं, बल्कि स्वस्थ व्यक्तिकी आनन्द-साधना थी। ठीक आदर्श वही है यह मै मानता हूँ; मेरी कविता उसकी अनुगामिनी नहीं है तो यह मेरी सीमा है। उस सीमाके लिए किसी हद तक मेरा युग भी उत्तरदायी है, इतना ही अपने बचावमें कह सकता हूँ। या शायद इतना और भी कह सकता हूँ कि इस परिणाम तक पहुँचनेमें—इसे स्पष्ट निरूपित करके अपने सामने रखने और स्वीकार कर लेनेमें—मुझे कुछ समय लगा।* मैं जो लिखता रहा हूँ, उसमें यदि कोई क्रमिक विकास है और वह परिपक्वताकी ओर है, तो इतना ही लज्जित होनेका कोई कारण नहीं है कि आरम्भकी रचनाएँ कच्ची हैं—और क्या होतीं ?

---

*'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' में 'कविके प्रति कवि' :

नमः कवि, जो भी तुम
नाम छोड़ ही नाम छोड़ गये;
जो जब-जब हम शास्त्र रच मुदित हुए
संचित हमारा अहंकार—
स्मित-भरसे तोड़ गये···

प्रयोग और प्रेषणीयता

कविका कथ्य उसकी आत्माका सत्य है। [यह एक गोल-सी बात है, अतः इसके सत्य होनेकी सम्भावना काफ़ी है !] यह भी कहना ठीक होगा कि वह सत्य व्यक्तिबद्ध नहीं है, व्यापक है, और जितना ही व्यापक है उतना ही काव्योत्कर्षकारी है। किन्तु यदि हम यह मान लेते हैं, तब हम 'व्यक्ति-सत्य' और 'व्यापक-सत्य'की दो पराकाष्ठाओंके बीचमें उसके कई स्तरोंकी उद्भावना करते हैं, और कवि इन स्तरोंमें से किसीपर भी हो सकता है।

और आज इसीकी सम्भावना अधिक है कि कवि इन बीचके स्तरोंमेंसे किसी एकपर हो। 'व्यापकता' वैसे भी सापेक्ष्य है; जीवनकी बढ़ती हुई जटिलताके परिणाम-रूप 'व्यापकता'का घेरा क्रमशः अधिकाधिक सीमित होना चाहता है।

एक समय था जब कि काव्य एक छोटे-से समाजकी थाती था। उस समाजके सभी सदस्योंका जीवन एकरूप होता था, अतः उनकी विचार-संयोजनाओके सूत्र भी बहुत कुछ मिलते-जुलते थे—कोई एक शब्द उनके मनमें प्रायः समान चित्र या विचार या भाव उत्पन्न करता था। इसका एक सकेत इसी बातमें मिलता है कि आचार्योंने काव्य-विषयोंका वर्गीकरण सम्भव पाया, और कविको मार्ग-दर्शन करनेके लिए बता सके कि अमुक प्रसंगमें अमुक वस्तुओंका वर्णन या चित्रण करनेसे सफलता मिल सकेगी। आज यह बात सच नहीं रही। आज काव्यके पाठकोंकी जीवन-परिपाटियोंमें घोर वैषम्य हो सकता है; एक ही सामाजिक स्तरके दो पाठकोंकी जीवन-परिपाटियाँ इतनी भिन्न हो सकती हैं कि उनकी विचार-संयोजनाओंमें

समानता हो ही नहीं, ऐसे शब्द बहुत कम हों जिनसे दोनोंके मनमें एक ही प्रकारके चित्र या भाव उदित हों।

प्रयोग: वैशिष्ट्यके लिए नहीं, साधारणत्वके लिए

यह आजके कविकी सबसे बड़ी समस्या है। यों समस्याएँ अनेक हैं—काव्य-विषयकी, सामाजिक उत्तरदायित्वकी, संवेदनाके पुनःसंस्कारकी, आदि—किन्तु उन सबका स्थान इसके पीछे है, क्योंकि यह कवि-कर्मकी ही मौलिक समस्या है, साधारणीकरण और सम्प्रेषणकी समस्या है। और कविको प्रयोगशीलताकी ओर प्रेरित करने वाली सबसे बड़ी शक्ति यही है। कवि अनुभव करता है कि भाषाका पुराना व्यापकत्व उसमें नहीं है—शब्दोंके साधारण अर्थसे बड़ा अर्थ हम उसमें भरना चाहते हैं, पर उस बड़े अर्थको पाठकके मनमें उतार देनेके साधन अपर्याप्त हैं। वह या तो अर्थ कम पाता है या कुछ भिन्न पाता है।

प्रयोग सभी कालोंके कवियोंने किये हैं: यद्यपि किसी एक कालमें किसी विशेष दिशामें प्रयोग करनेकी प्रवृत्ति होना स्वाभाविक ही है। किन्तु कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रोंमें प्रयोग हुए हैं, उनसे आगे बढ़ कर अब उन क्षेत्रोंका अन्वेषण करना चाहिए जिन्हें अभी नहीं छुआ गया, या जिनको अभेद्य मान लिया गया है। भाषाको अपर्याप्त पाकर विराम-संकेतोंसे, अंकों और सीधी-तिरछी लकीरोंसे, छोटे-बड़े टाइपसे, सीधे या उलटे अक्षरोंसे, लोगों और स्थानोंके नामोंसे, अधूरे वाक्योंसे—सभी प्रकारके इतर साधनोंसे कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदनाकी सृष्टिको पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके। पूरी सफलता उसे नहीं मिली—जहाँ वह पाठकके विचार-संयोजक सूत्रोंको नहीं छू सका, वहाँ उसे पागल प्रलापी समझा गया, या अर्थका अनर्थ पा लिया गया। बहुतसे लोग इस बातको भूल गये कि कवि आधुनिक जीवनकी एक बहुत बड़ी समस्याका सामना कर रहा है—भाषाकी क्रमशः

संकुचित होती हुई सार्थकताकी केंचुल फाड़कर उसमें नया, अधिक व्यापक, अधिक सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है—और अहंकारके कारण नहीं, इसलिए कि उसके भीतर इसकी गहरी माँग स्पन्दित है, इसलिए कि वह 'व्यक्ति-सत्य' को 'व्यापक-सत्य' बनानेका सनातन उत्तरदायित्व अब भी निबाहना चाहता है, पर देखता है कि साधारणीकरणकी पुरानी प्रणालियाँ, जीवनके ज्वालामुखीसे बहकर आते हुए लावासे भी भरकर और जम कर रुद्ध हो गयी हैं, प्राण-संचारका मार्ग उनमें नहीं है।

जो व्यक्तिका अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी सम्पूर्णतामें पहुँचाया जाय—यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलताको ललकारती है। इसके बाद इतर समस्याएँ हैं—कि वह अनुभूत ही कितना बड़ा या छोटा, घटिया या बढ़िया, सामाजिक या असामाजिक, ऊर्ध्व या अधः या अन्तः या बहिर्मुखी है, इत्यादि। * * *

स्वान्तःसुख

मैं 'स्वान्तःसुखाय' नहीं लिखता। कोई भी कवि केवल मात्र 'स्वान्तः-सुखाय' लिखता है या लिख सकता है, यह स्वीकार करनेमें मैंने अपनेको सदा असमर्थ पाया है। अन्य मानवोंकी भाँति अहं मुझमें भी मुखर है, और आत्माभिव्यक्तिका महत्त्व मेरे लिए भी किसीसे कम नहीं है; पर क्या आत्माभिव्यक्ति अपने-आपमे सम्पूर्ण है? अपनी अभिव्यक्ति—किन्तु किसपर अभिव्यक्ति? इसी लिए 'अभिव्यक्ति'में एक ग्राहक या पाठक या श्रोता मैं अनिवार्य मानता हूँ, और इसके परिणामरूप जो दायित्व लेखक या कवि या कलाकारपर आता है उससे कोई निस्तार मुझे नहीं दीखा। अभिव्यक्ति भी सामाजिक या असामाजिक वृत्तियोंकी हो सकती है, और आलोचक उसका मूल्यांकन करते समय ये सब बातें सोच सकता है, किन्तु वे बादकी बातें हैं। ऊपर प्रयोगशीलताको प्रेरित करने वाली जो अनिवार्यता बतायी गयी है, अभी तो उसींकी सीमाओंकी ओर संकेत करना

चाहता हूँ। ऐसा प्रयोग अनुज्ञेय नहीं है जो 'किसीकी किसीपर अभिव्यक्ति' के धर्मको भूल कर चलता है। जिन्हें बालकी खाल निकालनेमें रुचि हो वे कह सकते हैं कि यह ग्राहक या पाठक कविके बाहर क्यों हो—क्यों न उसींके व्यक्तित्वका एक अंश दूसरे अंशके लिए लिखे? अहंका ऐसा विभागीकरण अनर्थहेतुक हो सकता है; किन्तु यदि इस तर्कको मान भी लिया जाय तो भी यह स्पष्ट है कि अभिव्यक्ति किसीके प्रति है और किसीकी ग्राहक [या आलोचक] बुद्धिके आगे उत्तरदायी है। जो [व्यक्ति या व्यक्ति-खण्ड] लिख रहा है, और जो [व्यक्ति या व्यक्ति-खण्ड] सुख पा रहा है, वे हैं फिर भी पृथक्। भाषा उनके व्यवहारका माध्यम है, और उसकी माध्यमिकता इसीमे है कि वह एकसे अधिकको बोधगम्य हो, अन्यथा वह भाषा नहीं है। जीवनकी जटिलताको अभिव्यक्त करने वाले कविकी भाषाका किसी हद तक गूढ़, 'अलौकिक' अथवा दीक्षा-द्वारा गम्य [एसोटेरिक] हो जाना अनिवार्य है, किन्तु वह उसकी शक्ति नहीं, विवशता है; धर्म नहीं, आपद्धर्म है।

•

प्रतीकों का महत्त्व*

जिस प्रकार अच्छी समीक्षा अच्छे साहित्यपर निर्भर करती है, उसी प्रकार अच्छे साहित्यके निर्माणके लिए अच्छी समालोचना भी आवश्यक शर्त होती है। और समालोचनासे अभिप्राय निरी चर्चासे नहीं है, बल्कि यह बिलकुल सम्भव है कि पूर्वग्रह-युक्त अधिक चर्चासे साहित्यके विकासमें बाधा ही पड़े। क्योंकि साहित्यका रसास्वादन करनेके लिए यह आवश्यक है कि एक तो स्वाद-क्षमता हो, दूसरे उसके लिए अनुकूलता हो—उसके प्रति खुलापन और उत्सुकता हो। निरी चर्चाका परिणाम बहुधा इससे उलटा होता है: वह मनको बन्द कर देती है और ग्राहकताको रुद्ध करती है।

यह बात कविताके बारेमें और भी अधिक सच है। और आजके-से मताग्रही युगमें तो कौन कवि ऐसा होगा जिसने इसकी सच्चाईका अनुभव न किया हो!

इस मामलेमें मेरा दुर्भाग्य किसी हिन्दी कविसे कम नहीं रहा है। यों पहले अपने कवित्वके बारेमें कोई ग़लतफ़हमी मुझे रही हो तो अब नहीं है, अब मैं स्वय अपने लिखनेको उतना महत्त्व नहीं देता जितना इस बातको, कि जिन चीज़ोंसे मुझे प्रेरणा मिली है—या जिन प्रेरणाओंसे मुझे यत्किंचित् दृष्टि मिली है—उनके प्रति लोगोंमें वह खुलापन ला सकूँ जो मेरी समझमे काव्यके रसास्वादनकी पहली शर्त है। इस बातमें कोई व्याज-गर्व या

*यह वस्तु पटना और इलाहाबादसे सन् १९५२–५३में प्रसारित दो वार्ताओंसे ली गयी है। इसकी पृष्ठिका सन् १९५०–५२ में लिखी गयी, अर्थात् मुख्यतया 'बावरा अहेरी' की, कविताएँ हैं।

मिथ्या विनय नहीं है। मैं सचमुच यह अनुभव करता हूँ कि न केवल अनासक्त, असम्पृक्त साहित्य-सेवाकी दृष्टिसे, वरन् स्वयं अपने लेखनको ठीक परिपार्श्वमें रखनेके लिए, वह उपयोगी होगा।

अपनी कविताके बारेमें कभी कुछ कहता हूँ, तो इसी आशासे। नहीं तो यही मानता हूँ कि कविने कवितामें जो कुछ कहा है, उसके बाहर उसका कुछ कथ्य न है, न होना चाहिए; अगर वह अधिक कुछ कहना आवश्यक पाता है तो अपनी असफलता ही घोषित करता है। और युगकी प्रवृत्तिसे आकृष्ट होकर अपना प्रचार या अपनी व्याख्या करने लगना या करना चाहना उसके लिए बड़ा अहितकर हो सकता है। यह सीख कि 'बातको सुनो, बात करने वालेकी मत सुनो', औरोंके लिए तो ठीक ही है, स्वयं बात करनेवालेका भी मार्ग-निर्देश उसमें है—उसे भी अपनेको गौण मानते चलना चाहिए।

इसलिए मेरी कविता—जैसी भी वह है—उसे आप चाहे रुचिसे पढ़ें या न पढ़ें, सुनें या न सुनें; उसपर विचार जब भी करें तो उसीको सामने रखकर करें, उसके समर्थन या व्याख्यामे मेरे कहे हुएको कोई महत्त्व न दें। हाँ, साधारणतः आधुनिक कविताके बारेमें जो ग़लतफ़हमियाँ हो सकती हैं या फैलायी जाती हैं, उनके बारेमे मैं भी कुछ कह सकता हूँ, और अनुरोध करूँगा कि उसपर आप विचार करें।

प्रतीक और जन-मानस

मैंने अन्यत्र जो कुछ कहा है—और आशा करता हूँ कि स्पष्ट और सुबोध ढंगसे ही कहा है—उसे यहाँ नहीं दुहराऊँगा। यहाँ आधुनिक कवितामें प्रतीकोंके महत्त्वके बारेमें ही कुछ कहना चाहता हूँ—उनके महत्त्वके बारेमें, और उनकी सृष्टिके तरीक़ों और कारणोंके बारेमें।

कहा जाता है कि प्रतीकोंको महत्त्व देना प्रतीकवाद है और यह ह्रासशील प्रवृत्ति है। यह भी कहा जाता है कि प्रतीकवादी भारतमें एक ऐसी

परम्पराको लेकर चलते हैं जो विदेशोंमें परीक्षाके बाद छोड़ दी गयी। अर्थात्—यह कि प्रतीकवाद एक तो मुर्दा है, दूसरे विदेशी मुर्दा है।

मेलार्मे और रैम्बो और बिम्बवादके नाम लेकर पाठकको डराना नहीं चाहता—नामोंसे मैं ही डरता हूँ! पर क्या कवितामें प्रतीकोंका उपयोग सचमुच विदेशी और ह्रासोन्मुख वर्गकी विशेषता है? मैं तो कहूँगा—और थोड़ा-सा भी अध्ययन और पर्यवेक्षण इसे पुष्ट करेगा—कि कोई भी स्वस्थ काव्य-साहित्य प्रतीकोंकी, नये प्रतीकोंकी, सृष्टि करता है, और जब वैसा करना बन्द कर देता है तब जड़ हो जाता है—या जब जड़ हो जाता है तब वैसा करना बन्द करके पुराने प्रतीकोंपर ही निर्भर करने लगता है। और, जहाँ तक जनवादका प्रश्न है, अगर हम यह स्वीकार करें कि हम-आप पढ़े-लिखोंके, और साहित्यको लेकर चख-चख करनेवाले और दूसरोंके साहित्यसे बढ़कर हम ग्राम-साहित्यको जन-साहित्य मानते हैं—और न मानकर जावेंगे कहाँ?—तो हमे लक्ष्य करना होगा कि जन-साहित्य सदासे और सबसे अधिक प्रतीकों और अन्योंक्तियोंके सहारे ही अपना प्रभाव उत्पन्न करता है। यह चीज़ हम संस्कृतमें पाते हैं—वेदोंसे लेकर वाल्मीकि तक और वाल्मीकिसे लेकर कालिदास तक भी, फिर नहीं पाते तो **हिन्दीके उस कालमें जब उसका काव्य सामन्तोंका मुखापेक्षी था।** उसके बाद क्या हुआ? यही कि संस्कृतसे वह शक्ति अपभ्रंशोंमें और फिर लोक-साहित्योंमें चली गयी, और सामन्ती साहित्य अधरमें रह गया। रीति-काव्यमें प्रतीक सबसे कम है, लोक-काव्य और लोक-गाथामें सबसे अधिक। राजनीतिक मतवादको लेकर जनके नामकी ओट लेना एक बात है, जन-प्रकृतिको समझना, जन-मानसकी प्रवृतियोंको पहचानना दूसरी बात।

इसलिए, प्रतीक अपने-आपमें अनिष्ट नहीं है। आशंकनीय यह बात होती है कि ये प्रतीक निजी न बन जावें—बन क्या जावें, रह न जावें; क्योंकि निजीको सामान्य बनाना ही तो कवि-कर्म है। व्यापक सत्यको कवि

निजी करके देखता है, और निजी दृष्टिको फिर साधारण बनाता है। साधारणका साधारण वर्णन कविता नहीं है; कविता तभी होती है जब साधारण पहले निजी होता है और फिर, व्यक्तिमेंसे छनकर, साधारण होता है। जो इसको भूलते हैं, उनके पद्य परम सदुद्देश्यपूर्ण होकर भी कविता नहीं बन सकते, और चाहे जो कुछ हो जावें। * * *

वर्णन और भावन

कविता ज्यों-ज्यों वर्णनात्मकतासे भावनात्मकताकी ओर बढ़ती है त्यों-त्यों उसमें शब्दोंके कलनकी सतर्कता बढ़ती जाती है। फिर भावनात्मक कवितामें भी ज्यों-ज्यों कवि निवेदनसे सूचनकी ओर बढता है—जो विकास-की सहज और सही दिशा है क्योंकि वह समाज-जीवी मानव-प्राणीकी प्रवृत्तिके समान्तर चलती है—त्यों-त्यों उसका शब्द-संयमका आग्रह भी बढ़ता जाता है। इसकी चरमावस्था प्रतीकवादियोंके इस सिद्धान्तमे थी कि 'आदर्श कवितामें एक ही शब्द होना चाहिए,' क्योंकि 'एक शब्द—एक प्रतीक, एक चित्र या मूर्ति, एक सम्पूर्णता'....चरम युक्तियाँ चरम होनेके कारण ही भ्रान्त हो जाती हैं, फिर भी यह तो मानना होगा कि कमसे कम शब्दोंके द्वारा वांछित कुछ एक मूर्तियोंका उद्भावन अत्यन्त प्रभावोत्पादक हो सकता है।

●

प्रतीक और सत्यान्वेषण*

जीवन : निस्संग विस्मय

जीवनसे कौन प्रेम नहीं करता ? और कवि विशेष रूपसे जीवन-प्रेमी माना गया है । उसे न केवल स्वयं जीवनसे प्रेम होना चाहिए वरन् दूसरोंमें भी जीवनके प्रति प्रेमका भाव जगा सकना और जगाना चाहिए । पर जीवन-प्रेमका अर्थ हर आलोचकके लिए ही नहीं, हर जीने वालेके लिए अलग-अलग होता है । क्योंकि जीवन वास्तवमें निरी एक होनेकी क्रियाका, नैसर्गिक व्यापारोंके अनुक्रमका नाम नहीं है, जीवन उनके होनेके बोधका नाम है । यानी 'कुछ है' नहीं, 'मैं हूँ' का बोध ही वास्तवमें जीवन है । और, क्योंकि जीवन-व्यापारोंके साथ जीने वालेका सम्बन्ध सबका अपने-अपने ढंगका होता है, इस लिए जीवन-प्रेम भी हर किसीका अलग-अलग होगा ही ।

मेरे निकट जीवनके प्रति यह प्रेम एक निस्संग विस्मयका ही भाव है । जीवनमें व्यापारोंका यह अनुक्रम—यह परात्परता—सोचने बैठें तो कोई कारण नहीं है कि यह क्रम एक क्षणसे दूसरे क्षण तक चलता ही रहे, जीवन-परम्परा बनी ही रहे । किसी क्षण भी वह हठात् टूट जा सकती है, व्यापार समाप्त हो जा सकता है, जीवन चुक जा सकता है । फिर भी वह है, चलता है, और अनुभवोंकी एक अन्तहीन माला पिरोता जाता है—कुछ कड़ुवे, कुछ मीठे, सब अद्वितीय—यह विस्मय कुछ छोटा नहीं है; पर इसे

*** पृष्ठिकामें सन् १९५७-५८ की कविताएँ, जो नये संग्रह 'अरी ओ करुणा प्रभामय'में प्रकाशित हुई हैं; ये व्याख्यात्मक उद्धरण इलाहाबादके सन् १९५९ के एक प्रसारणसे लिये गये हैं ।**

पहचाननेके लिए एक निस्संगता भी अपेक्षित है। हम अपने भीतर पूरी तरह यह स्वीकार कर लें कि कभी भी यह समाप्त हो जा सकता है—यानी निस्संग हो जावें—और उतनी ही सम्पूर्णतासे यह भी अनुभव करें कि वह समाप्त नहीं हुआ है, चल रहा है—यानी विस्मयमें डूब जावें, मेरे निकट जीवनानन्दका यही नुस्खा है। निस्सन्देह ऐसे भी हैं जो कहेंगे कि जीवनके प्रति यह समर्पण ही पर्याप्त नहीं है, इस जीवनानन्दको भी समर्पित करना चाहिए तभी वह सार्थक है। मैं जो कुछ कह रहा हूँ उसमें इसका विरोध या खण्डन नहीं है, इतना ही कहूँ कि वह काव्यकी नहीं, काव्यके आगेकी बात है। क्योंकि यह कहना, कि वह आनन्द भी समर्पित हो, यही कहना है कि काव्य भी समर्पित हो। और स्पष्ट है कि काव्यके समर्पणका प्रश्न उठनेमें ही काव्यका पहले अस्तित्व मान लिया गया है।

प्रातःकाल जागना, जाग कर सचेत हो आना, इन्द्रियोंका एक-एक कर जागना—क्योंकि यह तो वैज्ञानिक तथ्य है कि सब एक साथ नहीं जागतीं—और इस सामान्य जागरणके बाद वह विशेष जागरण जो अपनेको अपनी विशेष परिस्थितिके प्रति जगाता है—जो निरी चेतनाको अपने परिवेशकी चेतनामें बदल देता है—और फिर जागकर सहसा जागरणका, जीवनका, अखंडित परात्परताका विस्मयकर बोध—कि कल रात जो सोया था वही आज जागा है, कि कल और पहलेके जीवनानुभव भी उसीके हैं, उसी क्रममें हैं, जो आज जाग कर इस क्षणका अनुभव कर रहा है और आगे करता चलेगा····

किसी तरह रात कटी, पौ फटी :
मायाविनि छायाओंकी काली नीरन्ध्र यवनिका हटी।

·····································

परिचितके सहसा सब खुल गये द्वार;
उमड़ने लगा होनेका आदि-अन्तहीन पारावार।

और वह सब इस कारणहीन, अनधिकृत,

विस्मयकर संयोगसे कि किसी दुःस्वप्नके चंगुलमें भयानक रातमें
साँस नहीं उलटी !

यह निस्संग विस्मय पिछली दो-तीन वर्षोंकी मेरी रचनाओंमें कई रूपोंमें प्रकट हुआ है। प्रतीकोंके महत्त्वको, और अभिव्यक्तिकी सघनता और तीव्रताके लिए उनके उपयोगकी पद्धतियोंको ज्यों-ज्यों समझता गया हूँ—अथवा कह लीजिए कि जिस चीज़का मूल्य पहले ही जानता था उसका सही उपयोग भी कुछ-कुछ सीख गया हूँ या सीखता जा रहा हूँ—कुछ अपने अनुभवके सहारे, कुछ दूसरोंको उपलब्धिके अध्ययनसे—त्यों-त्यों उसे अपनी कवितामें लाता गया हूँ। * * *

प्रतीक : सत्यान्वेषणका साधन

जीवन····स्वप्नों और आकारोंका एक रगीन और विस्मय-भरा पुंज। हम चाहे तो उस रूपसे ही उलझे रह सकते हैं, पर रूपका यह आकर्षण भी वास्तवमें जीवनके प्रति हमारे आकर्षणका ही प्रतिबिम्ब है। जीवनको सीधे न देख कर हम एक काँचमेंसे देखते हैं, तो हम उन रूपोंमें ही अटक जाते हैं जिनके द्वारा जीवन अभिव्यक्ति पाता है। काँचकी टंकीमें पाली हुई सोन-मछलीपर एक छोटी-सी कवितामें यही कहा गया है :

> **हम निहारते रूप :**
> **काँचके पीछे हाँप रही है मछली।**
> **रूप-तृषा भी**
> [**और काँचके पीछे**] है **जिजीविषा।**

मछलीका प्रतीक कोई नया नहीं है। प्रतीकार्थ अलग-अलग होते रहें, वह दूसरी बात है। पर कुछ विशेष प्रतीक-रूप ऐसे होते हैं जो चिरकालके लिए स्थिर हो जाते हैं, व्यापक हो जाते हैं। यह इसी लिए है कि प्रतीक वास्तवमें ज्ञानका एक उपकरण है। जो सीधे-सीधे अभिधामें नहीं बँधता, उसे आत्मसात् करने या प्रेषित करनेके लिए प्रतीक काम देते हैं। जो

जिज्ञासाएँ सनातन हैं उनका निराकरण करनेवाले प्रतीक भी सनातन हो जाते हैं।

किन्तु प्रतीकोंके द्वारा ज्ञानकी खोज अपने-आपमें एक बड़ा कौतूहलप्रद विषय है। क्योंकि वह ज्ञान ही दूसरे प्रकारका है। वैज्ञानिक, सागरकी गहराई नापनेके लिए रस्सी डालता है, या किरणोंकी प्रतिध्वनिका समय कूतता है। वह एक प्रकारका ज्ञान है। कवि मछलीकी दौड़से सागरकी गहराई भाँपता है—वह दूसरे प्रकारका ज्ञान है। वह प्रतीक द्वारा सत्यको जानता है—सत्यके अथाह सागरमें वह प्रतीक-रूपी कंकड़ फेंककर उसकी थाहका अनुमान करता है। यदि हम सागरको हमारे न जाने हुए सब-कुछका प्रतीक मान लें, तो मछली उस प्रतीकका प्रतीक हो जाती है जिसके द्वारा कवि अज्ञात सत्यका अन्वेषण करता है। यहाँसे अन्वेपणकी पद्धतिका अन्वेषण करें तो और भी कई प्रतीक हमें मिलते हैं—सागर और मछली, नदी, सेतु, जलपर पड़ना प्रकाश, परछाँही, परछाँहीको भेदने वाली किरण, और अन्तमें वह प्रकाशमान मछली जो परछाहींको भेद जाती है—वह प्रतीक, जिसके द्वारा अन्वेषी स्वयं अपने अहंकारसे उत्पन्न पूर्वग्रहोंकी छायाके पार देख लेता है। वह निस्संग साक्षात्कार बड़े महत्त्वकी बात है—यद्यपि इस बातको भी अभिधामें कहना उसे हल्का बना देना है। अगर प्रतीकों द्वारा अन्वेषणको विना प्रतीक-योजनाके बखाना जा सकता—तो फिर वैसे अन्वेषणकी ही क्या आवश्यकता होती ?

अभी-अभी जो
उजली मछली
भेद गयी है
सेतु पर खड़े मेरी छाया—
(चली गयी है कहाँ)
वही तो
वही-वही तो

लक्ष्य रही अवचेतन, अनपहचाना
मेरी इस यात्राका।
खड़ा सेतु पर हूँ मैं,
देख रहा हूँ अपनी छाया,
मुझे बोध है नदी वहाँ नीचे बहती है
गहरी, वेगवती, प्लव-शीला।
ताल उसीकी अविरल
लहरोंकी गति पर देता है प्रतिपल
स्पन्दन यह मेरी धमनीका
और चेतनाको आलोकित किये हुए है
असम्पृक्त यह सहज स्निग्ध वरदान धूपका।
सब में हूँ मैं, सब मुझ में है
सबसे गुँथा हुआ हूँ : पर जो
बींध गया है सत्य मुझे वह
वह उजली मछली है
भेद गयी जो मेरी
बहुत-बहुत पहचानी
बहुत-बहुत अपनी यह
बहुत पुरानी छाया।
रुका नहीं कुछ,
सब-कुछ चलता ही जाता है,
रुका नहीं हूँ मैं भी खड़ा सेतु पर।
देखो—देखो—देखो—
फिर आयी वह रश्मिबाण, दामिनिद्रुत !—देखो—
बेध रहा है मुझे लक्ष्य मेरे बाणोंका !

●

थिर हो गयी पत्ती

वर्षों पहलेकी बात है, मेरे एक बड़े भाईका विवाह गौरैया चिड़ियासे हुआ था। बात यों हुई कि भाई मंगली थे। उन्हें स्वयं ज्योतिषमें कितनी श्रद्धा थी यह तो नहीं कह सकता, किन्तु भविष्यत् सम्बन्धियोंको ग्रह-भय बहुत था और वे वधूके कल्याणकी कोई चेष्टा अधूरी नहीं छोड़ देना चाहते थे। इसीलिए भाईका विवाह पहले गौरैयासे हुआ, और हमारी मानवी भौजाई गौरैयाकी सपत्नी होकर ही आयीं।

इस बातको लेकर हम भाभीको न चिढ़ायें, यह कैसे हो सकता था ? हम उनसे प्रायः पूछते कि 'बड़ी भाभी कहाँ है ?' और उनके यह पूछनेपर कि 'कौन भाभी ?' तुरत उत्तर देते, 'चिड़िया भाभी—और कौन ?'

लेकिन वही अकिंचन गौरैया चिड़िया एक दिन मेरा काव्य-गुरू हो जावेगी यह नहीं जानता था। निस्सन्देह गौरैया चिड़िया भी यह नहीं जानती। लेकिन द्रोणाचार्य अगर एकलव्यसे दुबारा न मिले होते, और दक्षिणा-स्वरूप उसका अँगूठा न कटवा लिया गया होता, तो भी क्या एक-लव्यको उनसे मिली हुई प्रेरणाका महत्त्व कम हो जाता ? गौरैया गुर्वीने मुझसे गुरु-दक्षिणा कभी नहीं माँगी, और उनके परिवारके लोग जब-तब जो दो-चार दाने मेरे आँगनसे उड़ा ले गये हैं उनके कारण मुझे पानेका सुख ही अधिक मिला है, अदायगीका कोई भाव मेरे मनमें नहीं आया। फिर भी गुरु-ऋणको स्वीकार करते हुए उस छः-सात वर्षकी शिक्षा-दीक्षाका भी उल्लेख करना चाहता हूँ जो एक गौरैया चिड़ियासे मुझे मिली।

सन् '५१ में एक बार अपनी छोटी-सी कोठरीके भीतर बैठा कुछ लिख रहा था। आँगनकी ओरके दरवाज़ेपर चिक पड़ी थी जिसके बाहर मेरे लगाये हुए दो गमले रखे थे। पक्के घरोंके मुहल्लेमें हरियाली कहीं भी बहुत कम थी; इसलिए मेरे पक्के आँगनके दो-चार गमलोंके पौधे चिड़ियोंके लिए बड़े आकर्षणकी चीज़ थे। दरवाजेके बाहर गमलोंमें घी-क्वाँर जातिके दो पौधे लगे हुए थे—उस तप जानेवाले आँगनमें अच्छी जातिके पौधे बचते ही नहीं!

लिखते-लिखते न जाने क्यों—शायद दृष्टि-मण्डलकी सीमापर होने वाली किसी हलचलके बोधसे—मैंने सहसा आँख उठाकर चिकके पार पौधेकी ओर देखा।

बात कहते देर लगती है। जो घटना देखी उसमें उतनी देर नहीं लगी थी। एक चिड़िया आकर क्वाँरकी पत्तीके छोरपर टिकी ही थी कि—शायद मेरी ही तरह चिकके दूसरी पारकी हलचलका कुछ आभास पाकर—पत्तीको ठेलती हुई फिर उड़ गयी। मानो उसका बैठने आना, पत्तीको छूना और पकड़नेसे भी पहले ठेलकर उड़ जाना अलग-अलग क्रियाओंका क्रम नहीं, एक ही अविभाज्य क्रिया थी। पंजोंके और पंखोंके धक्केसे आहत लम्बी पत्ती दो-एक बार काँपी और क्रमशः स्थिर होती चली।

मेरे चमत्कृत मनमें कुछ शब्द जागे। 'कुछ शब्द' इसलिए कहता हूँ कि यद्यपि वे एक पंक्तिमें भी लिखे जा सकते थे तथापि मेरे मनमें तीन-चार पंक्तियोंमें विभक्त ही उदित हुए, मानो कविताका एक पद हो :

उड़ गयी चिड़िया :
काँपी, फिर
थिर
हो गयी पत्ती।

घटना और उसकी अनुभूति दोनों इतने हीमे सम्पूर्ण हैं । लेकिन क्या उनसे जो भाव मेरे मनमे उदित हुआ वह भी इन शब्दोंमें सम्पूर्ण हो गया ? दूसरे शब्दोंमे इस प्रश्नको यों पूछूँ, कि मनमे कविताके-से अनुक्रममे जो शब्द उदित हुए थे, वे क्या सम्पूर्ण कविता थे ? या केवल कविताका एक अश ?

घटनाको, या इन शब्दोंको मैं न भूल सका । कई महीनों तक बार-बार उनसे उलझकर मैने उन्हें एक कवितामें ढाला—इन शब्दोंका क्रम ज्योंका त्यों था किन्तु आगे-पीछे कुछ और पक्तियाँ जोड़ी गयी थीं । और हाँ, चौंकिये मत !—'पत्ती'की तुकका भी निर्वाह किया गया था । जब सौभाग्यसे उस कविताको छपानेसे बच ही गया हूँ तो अब यह बताना आवश्यक नहीं है कि तुकमें कौनसे शब्द आये थे । जब मैं ही अपनेपर हँस सकता हूँ तो दूसरोंको अपनेपर हँसाना आवश्यक नहीं मानता ।

कविता लिखकर एक ओर रख दी गयी । साधारणतया इससे उस अनुभूतिको चुक जाना चाहिए था और मूल घटनाको स्मृतिके क्षितिजसे नीचे उतर जाना चाहिए था । लेकिन वैसा नहीं हुआ । वही दृश्य फिर भी बार-बार सामने आता रहा और वे शब्द बार-बार मनको कोंचते रहे । क्योंकि सच बात यह थी कि उस अनुभूतिकी ललकार अभी चुकी नहीं थी, मैंने जो कविता लिखी थी वह एक प्रकारसे धोखा था क्योंकि उसने केवल बुद्धिको तोष दिया था, भावका रेचन नहीं किया था ।

एक बार फिर इसीको लेकर एक और कविता लिखी । कितना सन्तोष है मुझे कि वह भी मैंने छापी नहीं ! उसके बारेमें इतना और कह दूँ कि उसमे पत्तीकी तुक निबाहनेकी कोई चेष्टा मैंने नहीं की थी । यह समझ कर कि ऐसी तुक चेष्टित और इस लिए कृत्रिम ही हो सकती है, मैंने उसका मोह छोड़ दिया था । अपनी सुविधाके लिए शब्दोंमें भी कुछ हेर-फेर कर लिया था—**'काँपी, फिर थिर हो गयी पत्ती'**का रूप बदल कर **'पत्ती काँपके फिर थिर हो गयी'** हो गया था । कहना न होगा कि 'पत्ती'

की अपेक्षा 'हो गयी'में अनुप्रासके लिए कहीं अधिक गुंजाइश है ! दूसरी कविता तुककी दृष्टिसे उतनी दूषित नहीं थी जितनी कि पहली, किन्तु यह साफ़ पहचाना जाता था कि कौन-से शब्द मूल अविभाज्य अनुभूतिके हैं और कौनसे बादमें जोड़े हुए। जैसे नकली सिक्का चलाना चाहनेवाला अच्छे सिक्कोंके साथ खोटा सिक्का मिलाकर चलाने जानेपर बराबर आशंकित रहता है, और दूसरोंके न पहचान सकनेपर भी स्वयं मानो जाली सिक्केको बिलकुल अलग खड़ा और पुकार-पुकारकर अपना जालीपन घोषित करता हुआ समझता रहता है, उसी तरह मूल अनुभूतिसे सम्बद्ध शब्दोंको छोड़कर बाक़ी शब्द मुझे पुकार-पुकार कर कहते जान पड़ते थे कि 'देखो, देखो, यह कितना बड़ा धोखा कवि कर रहा है—हम बगुलोंको रँग कर इन हंसोंके साथ बिठा रहा है !'

दक्षिणके एक कविके बारेमे किवदन्ती है कि उसकी मृत्युके बाद उसके अधूरे काव्यकी पूर्ति करने कालिदास बैठे थे तो उन्हे स्वप्नमे दर्शन देकर सरस्वतीने टोका था : 'मेरे वरद पुत्रके सोनेके तारसे बुने हुए पटमें तू अपना कच्चे सूतका धागा मत मिला !' और इससे अप्रतिभ होकर कालिदासने अधूरा काव्य अधूरा ही छोड़ दिया था। लेकिन वह तो दो कवियोंकी प्रतिस्पर्द्धाकी बात थी, यहाँ तो 'स्वर्ण-पट' भी उसीका था जिसका कि कच्चा सूत !

जो हो। वह अनिष्पन्न अनुभूति, और उसके साथ-साथ अपूर्ण कृतित्व की कसक वर्षों तक बनी रही। मेरी कापीमें लिखे हुए ये कुछ शब्द मेरे साथ-साथ कई देश घूम आये और कई वर्षोंका व्यवधान पार कर आये। न उनकी ललकार कम हुई, न उनके आह्वानका कोई सन्तोषजनक उत्तर मैं दे सका। कहूँ कि मेरी काव्य-शिक्षा पूरी नहीं हुई, यह पहचानकर मेरी काव्य-गुर्वी गौरैयाने मेरा पीछा नहीं छोड़ा और मुझे बार-बार मेरी अधूरी तपस्याका उलाहना देती रही।

सन् '५७ की गर्मियोंमें जापान जानेका सुयोग हुआ। जापानी साहित्य

थोड़ा-बहुत पहले भी पढ़ा था और यूरोपीय काव्य और चित्रकलापर जापानी काव्य और चित्रकलाके प्रभावकी बात भी मेरी अनजानी नहीं थी। लेकिन तबसे लगातार कुछ महीनों तक बहुत-सा जापानी साहित्य पढ़ता रहा। विशेपतया जाड़ोंमे जापानके सुन्दर प्राकृतिक स्थलोंमें अकेले घूमते या रहते हुए जापानी काव्यमें गहरे उतरनेका पर्याप्त अवसर मिला। इतना ही नहीं, जापानकी विशेष साधना-पद्धति (ज़ेन, ध्यान) के सिद्धान्तोंसे भी परिचय हुआ और धीरे-धीरे यह दीखने लगा कि किस प्रकार इस विशेष दर्शनने जापानी कविताको ही नहीं, बल्कि कुछ वर्ष पहले तकके समूचे जापानी जीवनको कितना प्रभावित कर रखा था।

मेरी कापीकी वह अधूरी कविता अब भी मेरे साथ थी। मैं जब-तब जापानी लघु मुक्तक 'हाइकू'के सग्रह उठाकर पढ़ता और कुछ-एक मुक्तक पढ़नेके बाद आप्यायित भावसे पुस्तक एक ओर रखकर बैठा सोचता रहता····कभी-कभी अपनी कापी उठाकर उसके पन्ने उलटता और गौरैया चिड़िया वाली कवितापर आकर रुक जाता····

जेन साधना-पद्धतिका एक अंग है 'कोआन' अथवा पहेली। यद्यपि इसे पहेली कहना पर्याप्त नहीं है क्योंकि इसका कोई एक बँधा हुआ उत्तर नहीं होता, हर साधक उसके लिए अपना विशिष्ट उत्तर पाता है। पहेलियोंका उद्देश्य ही साधकको बँधे-बँधाये उत्तरके पूर्वग्रहसे मुक्त करना होता है। यद्यपि पूर्वग्रहसे मुक्त करनेके लिए गुरु आवश्यक होता है, तथापि गुरु स्वयं एक पूर्वग्रह है और साधकको गुरुसे कुछ पानेकी अपेक्षासे भी मुक्त होना होता है····साधकके भीतर यथासमय कभी एक उन्मेप ('सातोरी') होता है, और तीखे शुभ्र प्रकाशमें वह पा लेता है पहेलीका उत्तर—अभूत-पूर्व, अद्वितीय और एक-मात्र असम्पृक्त उत्तर, जो इतना निस्सग है कि स्वयं पहेलीसे भी कोई सम्बन्ध नहीं रखता—गुरुसे या परम्परासे सम्बन्धकी बात तो दूर।

इन सब बातोंका सन्दर्भ देनेमें ख़तरा है यह मैं जानता हूँ। किसी

विशेष साधना-पद्धतिका मेरा कोई दावा नहीं है—न किसी विशेष उन्मेष अथवा उपलब्धिकी बात मुझे कहनी है। ज़ेनके इतिहास और जापानी काव्य पर ज़ेन विचार-पद्धतिके प्रभावका इतिहास कहीं पृष्ठभूमिमें ही रहा। मुझे उसका लाभ हुआ तो यही कि काव्य-सम्बन्धी बहुतसे पूर्वग्रह मुझसे झरते रहे, उनकी धुन्धसे अवरुद्ध दृष्टि मेरे अनजाने ही स्पष्ट होती रही।

अनन्तर जापानसे लौट आया। कई जापानी कविताओंका अनुवाद किया था; उन्हे क्रम-बद्ध करके रख दिया और दूसरे देशोंके साहित्योंकी ओर प्रवृत्त हुआ।

फिर एक दिन अचानक अपनी कापी उठायी और गौरैया चिड़िया वाली पंक्तियोंको मूल रूपमें एक नये पृष्ठपर लिखा; ऊपर शीर्षक दे दिया 'चिड़ियाकी कहानी'। फिर एक बार शीर्षक-युक्त पक्तियोंको देखा और सहसा पहचान लिया कि यह कविता है—कि इतनी ही कविता है और मैं जो कुछ उसमें जोड़नेका मोह कर रहा था वह अधिकसे अधिक व्याख्या हो सकता था—नहीं तो वह भी नहीं, निरा कूड़ा ही रह जाता।

मेरे मनके भीतर जो चिड़िया वर्षोसे उड़ती-उड़ती भी उड़ नहीं पायी थी और पत्तीको वर्षोसे काँपता ही छोड़ गयी थी, उस दिन सहसा उड़ गयी। काँपती हुई पत्ती थिर हो गयी।

मैं मानता हूँ कि उस दिन अपने काव्य-शिक्षणका एक सोपान मै पार कर गया। आप इसे मानें या न मानें, आपको पूरा अधिकार है। गौरैया चिड़िया मेरी गुरु थी, आपको वैसा गुरु न मिला हो तो उसमे मेरा क्या दोष है? मिला भी होता तो इस सम्प्रदायके गुरुकी शिक्षा किन्हीं दो शिष्योंके लिए कभी एक-सी नहीं होती—क्या जाने उसी पत्तीसे उड़ती हुई वही चिड़िया आपको क्या सिखा जाती! किन्तु मेरी एक यात्रा पूरी हुई, इसके लिए मैं गुरु-स्थानीया गौरैयाको प्रणाम करता हूँ।

सन्दर्भ : आख्यान

शेखरसे साक्षात्कार

कुछ लोगोंको अपनी चर्चा बहुत अच्छी लगती है, कुछ लोगोंको बहुत बुरी; मुझे ज़रा भी सन्देह नहीं है कि मैं दूसरी कोटिमें हूँ। मेरे एक मित्र कहते हैं कि परनिन्दाके बराबर कोई सुख दूसरा है तो आत्म-प्रशंसाका सुख है; मैं दोनोंमें ही रस नहीं ले पाता यह मेरा दुर्भाग्य भी हो सकता है। पर जहाँ अपनी चर्चा करना और सुनना दोनों ही मुझे अप्रीतिकर हैं, वहाँ अपनी रचनाकी चर्चाके बारेमें मेरा भाव दोरुख़ा है इसे अस्वीकार करना झूठ होगा। अपनी किसी रचनाकी दूसरों द्वारा की गयी चर्चा अच्छी ही लगती है, भले ही वह—जैसा कि मेरा अनुभव प्रायः रहा है—प्रतिकूल ही हो। स्वयं जब-जब चर्चा करनी पड़ी है मैंने उसे लेखककी हैसियतसे अपनी पराजय ही समझा है, क्योंकि जो लिखा, उसके बाहर उसके बारेमें कुछ लिखने-कहनेकी ज़रूरत क्यों पड़े? और मेरा समकालिक पाठक या आलोचक उसे ठीक न भी समझे तो भी मैं यह क्यों मानूँ कि उसे समझाना मेरा काम है? मै क्या अध्यापक हूँ—मेरा उद्दिष्ट छात्र है या कि सहृदय है; मेरी रचना कृति है या कि पाठ्य-पुस्तक? यह मान कर भी, कि आजके अस्सी प्रतिशत समीक्षक कर्तव्य-भ्रष्ट भी है और परम्परा-च्युत भी, मै यह नहीं मान पाता कि इसलिए उनका काम मुझे करना चाहिए—कमसे कम अपनी कृतियोंके बारेमें। इसलिए पहले ही साफ़ कहूँ कि **'शेखर'** की चर्चाका यह अवसर मेरे लिए प्रीतिकर नहीं है।

फिर क्यों उसकी चर्चा करता हूँ? केवल इसलिए कि इतने वर्षोंके अन्तरालके पार, **'शेखर'** के असली रूपके बारेमें—और कदाचित् उसके लेखकके असली रूपके बारेमें—मेरे मनमें कुछ कौतूहल हो आया है।

'शेखर' का पहला भाग बीस वर्ष पहले लिखा गया, दूसरा भी कोई तेरह वर्ष पहले, इस बीच क्या वह या उसका लेखक बदल नहीं गये होंगे ? तीसरे भागके प्रकाशनसे पहले ऐसी जिज्ञासा मनमें आना स्वाभाविक ही है, और उसीसे आज इस अवसरका औचित्य उत्सृत होता है ।

शेखर : उपन्यास **'शेखर'** नहीं, पात्र शेखर—उपन्यासमें निरन्तर छटपटाने वाला जीवन्त व्यक्ति शेखर : मान लीजिए कि राह-चलते आज कहीं उसकी मेरी मुठ-भेड़ हो जाय—तब ?

वह लीजिए—वह रहा शेखर : कुछ बिखरे बाल, व्यस्त अन्तर्मुखी मुद्रा, झुकी आँखें पर बेचैन ललकारते क़दम—"क्यों जी, कहाँ रहे तुम इतने बरस—क्या करते रहे ?"

"जी—मैंने आपको पहचाना नहीं ।"

"हाँ, बेटा, क्यों पहचानोगे तुम । तुम क्रान्तिकारी प्रसिद्ध हो । बहुतसे लोग तुम्हें निरा अहंवादी कहते हैं, और तुम्हारे क्रान्तिवादको निरा ध्वंसवाद—फिर भी तुम्हे असाधारण तो सब मानते हैं चाहे गालीके रूपमें ही । 'बदनाम होंगे तो क्या नाम न होगा ?' और मैं—मैं गालियाँ तो तुमसे कम नहीं खाता रहा, पर आज जो नयी गाली मुझे मिलती है वह यह कि प्रतिक्रियावादी हूँ—'प्रतिगामी शक्तियाँ' हूँ—बहुवचनका प्रयोग अपनेको बढ़ानेके लिए नहीं, इसलिए कर रहा हूँ कि बहुत-सी बुराइयोंमेंसे एक होनेके अभियोगको सही-सही कह सकूँ । आज तुम मुझे क्यों पह-चानोगे ! पर एक बात मेरी भी सुनोगे ?"

"जी हाँ, कहिए ।"

"वह यह कि अगर मैं आज तुम्हारे लिए अजनवी हूँ, तो तुम मेरे लिए विनोदास्पद हो । नहीं, ऐसे अभिजात ढंगसे यह कहनेकी कोई ज़रूरत नहीं है कि 'जी, मेरा अहोभाग्य' । मैं चिढ़ानेके लिए नहीं कह रहा हूँ, मैं इसलिए कह रहा हूँ कि मुझसे अजनबी होकर भी तुम मेरे साथके ऐति-

हासिक बन्धनसे अलग नहीं हो सकते। और जब ऐसा है तो क्यों नहीं हम फिर एक-दूसरेसे नया परिचय पा लें—हमारे बीचमें बाहरका कोई व्यवधान क्यों रहे ? इसलिए तुम्हें मेरी बात सुननी होगी—और ग़ैरकी बात मानकर नहीं, अपने एक अभिन्न सम्बन्धीकी बात मानकर सुननी होगी।"

"शायद यह लाचारी तो मेरे साथ है। पात्र एक बार गढ़ा जाकर स्वतन्त्र अस्तित्व तो पा लेता है, पर स्वतन्त्रका अर्थ असम्पृक्त तो शायद नहीं है। मुझे आपकी बात सुननी ही होगी।"

"धन्यवाद, शेखर। पर मैं यही कहना चाहता हूँ कि तुम नहीं, मैं आज असम्पृक्त हो गया हूँ। यह मेरी शेखी नहीं है, फिर भी चाहता हूँ कि उस बातको तुम पहचानो। तुम स्वतन्त्र हो, पर साथ ही इतिहासने तुम्हे बाँध भी दिया है, तुम जो हो उससे इतर नहीं हो सकते, तुम्हे विकासकी स्वतन्त्रता आज नहीं है। पर मैं—मैं राह पर हूँ। मैं बढ़ता और बदलता हूँ—अपने राग-विरागसे मुक्त होता हूँ—यानी राग-विरागके एक पुंजसे मुक्त होता हूँ, दूसरेसे संग्रथित, नये सम्पर्कोंमें पडकर पुरानोंसे असम्पृक्त होता हूँ। और तुम—तुम आज मेरे होकर भी मेरे नहीं हो। पराये कभी नहीं हो सकोगे, पर मेरे भी नहीं हो—और तुम्हारी ये सब उतावली परिवर्त्तनेच्छाएँ मुझे आज बडी रोचक लगती हैं पर साथ उद्वेलित नहीं कर सकतीं।"

"आप बदल सकते हैं, अज्ञेयजी, लेकिन ऐसा क्यों, कि मेरा विकास रुद्ध हो गया है ? क्या केवल इसलिए कि आपने एक बार मुझे लिख डाला ? रचना केवल अभिव्यक्ति नहीं है, वह सम्प्रेषण है। तब मैं केवल आपका अपेक्ष्य नहीं हूँ; प्रत्येक पाठक, प्रत्येक सहृदय मेरे रूपको बदलता है। क्योंकि मैं केवल वह नहीं हूँ जो आपने बना दिया : मेरा हर पाठक हर बार मुझे बनाता है। मैं तटवासी नहीं, मैं सेतु-वासी हूँ—और हर साहित्यिक चरित्र ऐसा ही सेतु-वासी है। आप क्या कहना चाहते हैं

कि एक सेतुकी मेहराब उठाकर चाहे जिस नदीपर रख दी जाय वही रहेगी ?''

''शाबाश, शेखर! देखता हूँ कि तुमसे आरम्भ करके मैं जिस अलगावके पथपर चला उसीपर तुम भी चले हो : तुम भी अपनेसे असम्पृक्त हो !''

''यह तो आपकी कृपा है। मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि लेखक को यह न भूलना चाहिए कि वह जो असम्पृक्त हो सकता है तो अपने पात्रके ही कारण। एक तटस्थता वह है जिसको पहुँचकर लेखक कृतिकार बनता है, दूसरी वह है जो उसे पात्रको रचनेके बाद मिलती है। आपने जो लिखा, उसमें भोक्तासे द्रष्टाकी स्थिति आपने कैसे पायी इसके बारेमें आपने अपनी भूमिकामें लिखा है। यह आरोप तो मैं आपपर कैसे लगाऊँ कि सच्ची तटस्थता आपने तब तक नहीं पायी थी—पर क्या यह नहीं कह सकता कि मुझे रचकर, मेरे माध्यमसे अपना संचित कुछ बिखेरकर ही आप वास्तवमें तटस्थ हो सके ?''

''शेखर, तुम्हारी बात आज मैं खूब समझता हूँ। और जो आरोप तुम नहीं लगाते, वह मैं स्वयं लगा सकता हूँ—कि **'शेखर'** पुस्तकमें वह सच्ची असम्पृक्त अवस्था नहीं है जिसे मैं उद्दिष्ट मानता हूँ। इस हद तक मैंने तुम्हारे साथ अन्याय किया है कि तुम्हें सीढ़ी बनाकर मैं मुक्त हुआ हूँ—लेकिन मुझे कहने दो कि इतना मुक्त मैं आज हूँ कि इसे स्वीकार कर सकूँ। दर्दकी बात मैंने तुम्हारी भूमिकामें लिखी है : दर्दका मूल्य आज भी मेरे निकट कम नहीं है, पर तटस्थताका आज एक नया अर्थ मैं जानता हूँ। साहित्यकार समाजको बदलता है—यानी वह उसका अनिवार्य कर्तव्य और ध्येय है, लेखक अनिवार्यतः सामाजिक क्रान्तिकारी है, इस किशोर मोहसे मैंने छुटकारा पा लिया है। **लेखक सिवा अपनेके कुछको नहीं बदलता, सिवा कलाकी समस्याके कोई समस्या हल नहीं करता।** उसमें कोई समाज-परिवर्तनकारी शक्ति आती है, या उसकी कृतियोंका कोई ऐसा प्रभाव होता है, तो इसीलिए कि वह केवल अपनेको बदलनेके शुद्ध आग्रह

के कारण व्यक्तिको एक अभ्रंश्य सामाजिक मूल्य या प्रतिमानके रूपमें प्रतिष्ठित करता है और समाजमें मूल्यकी प्रतिष्ठा ही उसका सच्चा सामाजिक कर्म है। जिस समाजमें ऐसे मूल्योंकी प्रतिष्ठा नहीं है, वह प्रगतिवान् नहीं हो सकता क्योंकि वह गतिवान् ही नहीं है; उसकी जडताका लाभ उठाकर जो शक्तियाँ अपनेको प्रतिष्ठित करती हैं वे सामाजिक उन्नतिकी शक्तियाँ नहीं हैं, और जो कुछ भी हों।"

"अज्ञेय जी, आप एक बात भूल गये हैं। बल्कि दो बातें। एक तो यह कि मैं जो भी होऊँ, आपने तो अभी **'शेखर'** पूरा नहीं किया है, इसलिए पाठककी बात तो दूर, अभी आप स्वयं भी मुझे बदल सकते हैं। दूसरी यह कि आगे आप नया कुछ न भी करें, तो क्या आप जो नयी बात कहना चाहते हैं उसके भी अंकुर आपने मुझमें ही नहीं पहचनवा दिये हैं? शेखरके अधूरे चरित्रमें भी क्या यह संकेत नहीं कि क्रान्तिको कम-से-कम साहित्यकी देन यही हो सकती है कि वह व्यक्ति-चरित्रको पुष्टतर बनानेमें योग दे? और—अपनी कमज़ोरी और आपके उद्देश्य स्वीकार करता हुआ कहूँ कि क्या मेरी—शेखरकी असफलताएँ भी अन्ततोगत्वा व्यक्ति शेखरकी न्यूनताओंके कारण ही नहीं है?"

"हाँ, शेखर, यह तो है। तुम्हारे बारेमें नयी दृष्टि भी मुझे तुमसे ही मिली है। और **'शेखर'** के तीसरे भागमें जो कुछ है—"

"क्षमा कीजिए—वह तीसरा भाग क्या लिख गया है? छपा तो नहीं है—"

"हाँ, लिख गया है, पर लिखा जाकर ही अकारथ भी हो गया है, क्योंकि अलग होकर जिसे लिख पाया, लिख डालकर उससे और अलग हो गया—और यह अलगाव अब इतना अधिक हो गया है कि पुस्तकको छापने देते संकोच होता है। तभीका तभी छप जाता तो एक बात थी, अब—अब दूसरी बात है। तुम्हींने कहा कि रचना अभिव्यक्ति-भर नहीं है, सम्प्रेषण है—और आज जब मुझे लगता है कि पहलेकी अभिव्यक्ति अधूरी है—

यानी आजकी दृष्टिसे अभिव्यक्ति नहीं है, तो सहृदय समाजके सामने मैं क्या प्रकाशित करूँ—सम्प्रेषण किसका करूँ ? यही आजकी मेरी समस्या है—मेरी कलाकी समस्या ।"

"जिसे केवल आप ही हल कर सकते हैं, अज्ञेय जी; मैं उसमें योग नहीं दे सकता—मैं तो समस्याका एक उपकरण हूँ ।"

"नहीं, शेखर; तुम समाधानके भी उपकरण हो । तुम्हारे ही द्वारा मैं फिर अपनेको पहचानूँगा । तीसरा भाग मैं दुबारा लिख रहा हूँ, और मेरा विश्वास है कि उसके बाद तुम और मैं—बीस और दस वर्ष पहलेके तुम और आजके या कि कलके तुम, और तब का, अब का, भविष्यका मैं—नये सिरेसे एक दूसरेको पहचानेंगे ।"

"तो फिर मैं आपको न पहचान कर क्या अनुचित कर रहा था ?"

"नही, शेखर । रचनामें ही मुझे नया संघटन, नया इंटेग्रेशन मिलेगा—और रचनाकी इसके सिवा दूसरी समस्या नहीं है कि उसके द्वारा रचना-रचयिता दोनोंका सघटन हो ।"

"मैं तो अभी आपको फिरसे पहचानने लगा—क्योंकि अपनेको जोखममें डालनेकी मेरी पहचानी हुई प्रवृत्ति आपमें ज्यों-की-त्यों है ।"

"लेकिन मेरा विनोद ? मैं कहूँ कि तुम अब भी मेरे विनोदकी वस्तु हो तो बुरा तो न मानोगे ?"

"बुरा माननेकी क्या बात है ? हर ईश्वर अपनी सृष्टिको देखकर हँसता है, पर कौन उससे अपनेको काट लेता है ? आपने मुझे नास्तिक बनाया था या नहीं, यह तो नहीं जानता—पर समझता हूँ कि ईश्वर भी सृष्टियों द्वारा अपना संघटन करता रहता है।"

"शेखर, आस्तिकताका प्रश्न क्यों उठाते हो जब कि वह तुरत ही एक जाड्याका, एक स्थितिशीलताका आग्रह बन जाता है ? हम आस्था-सम्पन्न रहें, इतना क्या तुम्हारे लिए भी काफ़ी नहीं है ?"

●

'शेखर' : एक प्रश्नोत्तरी*

"शेखरके विषयमें मुझे कुछ बातें आपसे पूछनी हैं ।"

—"जरूर पूछिए,—मेरा अहोभाग्य !"

"शेखरकी धातृभाषा अंग्रेज़ी बना कर क्या आपने पाठकोंके लिए उसकी मनोवृत्तिको समझना कठिन नहीं कर दिया है ?"

—"मैं तो समझता हूँ कि आसान कर दिया है—क्योंकि पढ़ने वाले स्वयं उसी कोटिके हैं । हिन्दीके उपन्यास पढ़नेवाले अधिकतर विदेशी उपन्यास साहित्यसे परिचित होते हैं । सब तो नहीं होते, लेकिन जो केवल हिन्दीसे परिचित हैं वे अधिकतर अब भी उपन्यासको घटिया साहित्य मानते हैं और जब **'शेखर'** लिखा गया था तब तो साहित्य ही नहीं मानते थे ।

"और फिर यह भी सोचिए कि शेखर है कौन ? जिस वर्गका प्रतीक पुरुष वह है, वह क्या सचमुच अंग्रेजीपर पला नहीं था ? और इस लिए सच्चे चित्रणके लिए अंग्रेज़ीके प्रभावको स्वीकार करना अनिवार्य नहीं है ?"

"शेखरके निर्माणके समय क्या किसी विदेशी उपन्यासका कोई पात्र आपके सामने था ?"

—"सामने था यह कहना ग़लत होगा । पर परोक्ष भी नहीं था यह दावा मैं कैसे कर सकता हूँ ? यही कह सकता हूँ कि किसी पात्रका

*** दिल्ली रेडियोकी प्रेरणासे श्री बनारसीदास चतुर्वेदीने 'शेखर'के सम्बन्धमें एक प्रश्नावली तैयारकी थी जिसके उत्तर लेखकने दिये थे । मूल प्रश्नावली अंग्रेज़ी-हिन्दी मिश्र भाषामें थी, किन्तु प्रश्नोंका प्रस्तुत रूप प्रश्नकर्ता द्वारा अनुमोदित है ।**

भारतीय प्रतिरूप बनानेकी मैंने कोई कोशिश नहीं की; न यही भावना मनमें थी कि किसी प्रसिद्ध पात्र जैसा पात्र, उससे अधिक सफलतासे चित्रित करके दिखाऊँ—'नहलेपर दहला' लगाने वाली जो मनोवृत्ति होती है। यों साहित्य पढ़ता हूँ तो उससे प्रेरणा भी मिलती ही है : जब हम किसी कलाकारकी प्रतिभाके सामने झुकते है तो उसमेंसे स्वयं भी कलाके प्रति निष्ठावान् होनेकी कर्तव्य-प्रेरणा पाते है। **'ज्याँ क्रिस्तोफ़'** के अनवरत आत्म-शोध और आत्म-साक्षात्कारका जो चित्र रोलाँने प्रस्तुत किया है, उससे मुझे अवश्य प्रेरणा मिली : लेकिन न तो **'शेखर'** उपन्यास **'ज्याँ क्रिस्तोफ़'** जैसा उपन्यास है, न शेखर पात्र वैसा पात्र है। समानता इतनी ही है कि जैसे **'क्रिस्तोफ़'** में लेखक एक आत्मान्वेषीके पीछे उसका चित्र खीचता चला है, वैसे ही मैं एक दूसरे आत्मान्वेषीके पीछे चला हूँ। **'क्रिस्तोफ़'** में सर्वत्र उपन्यासकार अन्य-पुरुषमे लिख रहा है, शेखरका रूप उत्तम-पुरुषमें लिखी गयी आत्मकथाका है—लेकिन यह तो तन्त्र यानी टेकनीककी बात है।"

"मै तो तुर्गेनेवके बाज़ारोवकी बात सोच रहा था।"

—"तुर्गेनेवका मैं बड़ा प्रशंसक हूँ, और मानता हूँ कि बाज़ारोवका चरित्र उपन्यास साहित्यकी एक विभूति है। लेकिन शेखरपर बाज़ारोवका प्रभाव मै समझता हूँ बिलकुल नहीं है। बाज़ारोव रूसी निहिलिज़्मकी देन है। तुर्गेनेव निहिलिस्ट नहीं था लेकिन उसने युगकी प्रवृत्तियोंको पहचाना और विश्लेषण करके इस प्रवृत्तिका चरम रूप सम्मुख रख दिया। मैं भी आतंकवादी दलसे सम्बद्ध रहकर भी 'कनविंस्ड' आतंकवादी नहीं रहा, पर मुझे इसमें बड़ी दिलचस्पी रही कि आतंकवादीका मन कैसे बनता है। **'शेखर'** की रचना इसीसे आरम्भ हुई। मुझे बाज़ारोवकी ज़रूरत नहीं थी, क्योंकि मुझे प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्य था। साथ ही यह प्रश्न भी मेरे सामने था, कि आतंकवादी बनता कैसे है, यही भर जानना काफ़ी नहीं है : अगर मुझे आतंकवादका दर्शन अपर्याप्त मालूम होता है तो उससे आगे भी बढ़

कर देखना होगा। और फिर यह भी संकेत देना होगा कि आतंकवादीके भीतर भी, उस वादके प्रति असन्तोष उसे प्रेरणा और शक्ति दे सकता है कि उससे आगे निकल जाय। बाज़ारोव नियतिवादी है। यह तुर्गनेवका दोष नहीं, उसकी सत्यनिष्ठा है—तत्कालीन निहिलिस्ट इससे आगे नहीं देखता था। शेखर नियतिवादी नहीं है। इसका श्रेय मै नही लेता; मानवमें मेरी आस्था अधिक है तो इसका कारण भौतिक दर्शनका तबसे आज तकका विकास भी है।''

''शेखर और बाज़ारोव दोनोंमें समान रूपसे माता-पिताके प्रति अवज्ञा का भाव है।''

''हाँ, एक हद तक है। वह पीढ़ियोंके परस्पर सम्बन्धका सूचक है। विना ऐसे सम्बन्धके आतंकवादी हो नहीं सकता। आस्तिकता और आस्था, नास्तिकता और अनास्था, दोनोंकी जड़में पितरों और सन्तानके रागात्मक सम्बन्ध होते हैं, और आधुनिक मनोविज्ञान इनका अन्वेषण करता है।''

''जब तक किसी पात्रका अन्त न हो जाय, तब तक उसके चरित्रका पूरा चित्र सामने नहीं आता। आपके सामने क्या शेखरका ऐसा सम्पूर्ण चित्र है ?''

''है तो। उसकी चर्चा मैं स्वय नहीं करता क्योंकि जब तक मेरी बातको पाठक अपने लिए न जाँच सके तब तक वह एक प्रकारका आरोप ही होगा। **'शेखर'**के तीसरे भागमें चित्र पूरा हो जाता है, पर वह अभी प्रकाशित नहीं हुआ है। आप पूछते हैं, तो कहूँ कि अन्त तक उसकी शिक्षा (मेरी दृष्टिमें) पूरी हो जाती है : वह हिंसावादसे आगे बढ़ जाता है। मैं समझता हूँ कि वह मरता है तो एक स्वतन्त्र और सम्पूर्ण मानव बन कर। यों उसे फाँसी होती है—ऐसे अपराधके लिए जो उसने नहीं किया है। आप चाहें तो इसमें भी बाज़ारोवसे समानता देख सकते है—पर मेरे निकट यह निष्पत्ति न तो नियतिवादी है और न निरा सिनिसिज़म :

मानव-जीवनके प्रति उपेक्षाका भाव मुझमें बिलकुल नहीं है, उसे मैं नगण्य नहीं मानता।''

''शेखरका यह अन्त विचारोत्तेजक और स्फूर्तिप्रद हो सकता है। लेकिन क्या वह उतना ही शानदार है जितना **'शेखर'**में रामजीका, जिस की फाँसी शेखर देखता है ?''

—''रामजी और मदनसिंह—**'शेखर'**के ये दो विशेष पात्र हैं : दोनोंमें एक ऋजुता है, जीवनके प्रति एक भव्य स्वीकारका भाव। लेकिन उस स्वीकारके पीछे जाइए तो दोनोंमें मौलिक अन्तर है। रामजीका स्वीकार सहज आस्थाका स्वीकार है। उसके कुछ सहज नैतिक मूल्य या प्रतिमान हैं, जिनके सहारे वह चलता है : उसकी शालीनता उसकी आस्थाका प्रतिबिम्ब है। मदनसिंहकी ऋजुता उतनी सहज नहीं है। वह दुःखसे मँज कर बना हुआ व्यक्ति है, उसकी जो दृष्टि मिली है वह बहुत अन्धकारमें टोहनेके बाद मिली है। मदनसिंहकी शालीनता विनयका 'ह्युमिलिटी' का—प्रतिबिम्ब है। एक तीसरा पात्र मोहसिन है : उसमें भी ऋजुता है : वह उसके फक्कड़पनका प्रतिबिम्ब है।

''शेखरकी यात्रा इन तीनोंसे कठिन है। टेकनीककी दृष्टिसे ये तीनों उसके अन्तःसंघर्षको और स्फुट करनेका काम करते हैं। मेरा विश्वास है कि अन्तमें ऋजुता उसमें भी आती है : और वह शालीनता स्वातन्त्र्यका प्रतिबिम्ब है। शेखरकी खोज अन्ततोगत्वा स्वातन्त्र्यकी खोज है—या हो, ऐसा उसके लेखकका प्रयत्न रहा।''

'शेखर'का जीवन-दर्शन क्या है, क्या आप संक्षेपमें बतानेकी कृपा करेंगे ?''

—''वाह-वाह ! अगर संक्षेपमें बता सकता तो विस्तारसे क्यों लिखता ? कला मितव्ययिताका दूसरा नाम है : जो कुछ भी कहा जाय वह संक्षिप्त-तम कलारूपमें कहा जाय यही कलाकारका उद्देश्य होता है। यों सूत्र आप

चाहें तो कह दूँगा 'स्वातन्त्र्यकी खोज'—फिर आप सूत्रकी व्याख्या चाहेंगे और मैं कहूँगा कि वही तो **'शेखर'** है।"

"शेखरके चरित्रमें कई ऐसे अवसर आये हैं जब उसका भारतीय नीति-शास्त्रकी दृष्टिसे स्खलन होता है। उसका क्या प्रभाव पाठक-पाठिकाओंपर पड़ेगा, यह भी आपने सोचा है?"

—"उत्तर देनेसे पहले स्वयं आपसे एक प्रश्न पूछूँ? आप नीति-शास्त्र और नीतिमें—या नीतिमें और नैतिकतामें—कोई भेद करते है?"

"इसमें आपका क्या अभिप्राय है मैं नही समझा।"

—"वह यह कि अगर नीतिशास्त्रसे—युगीन नैतिकतासे—ज़रा भी इधर-उधर नहीं हटना है तब तो नैतिक सघर्षका चित्रण ही नहीं किया जा सकता। और प्रचलित नैतिकताका समर्थन-भर करनेके लिए कलाकी साधना, कम-से-कम मुझे तो व्यर्थ मालूम होती है—और मेरा विश्वास है कि किसी भी कला-साधकको व्यर्थ मालूम होगी। क्योंकि कलाको नैतिकताके प्रचलित रूपसे कोई लगाव नहीं है—उसे तो नैतिकताके बुनियादी स्रोतोंसे मतलब है।

"और इतना ही नहीं, हमारे युगमें यह और भी महत्त्वपूर्ण बात हो गयी, क्योंकि—आप स्वयं मानेंगे—नैतिक रूढ़ियाँ जिस तेज़ीसे इस युगमें टूटीं वह बहुत दिनोंसे नहीं देखी गयी होगी। जब नैतिकताके पुराने आधार नहीं रहते—तब मानव कैसे नैतिक बना रह सकता है, या रह सके—यह प्रश्न तो कुछ ऐसा है कि कलाकारको ललकारे।"

"ख़ैर। मेरा प्रश्न तो अभी ज्यों-का-त्यों है।"

—"अब उसका उत्तर सरल है—बल्कि एक तरहसे मैं दे चुका: शेखरकी स्वातन्त्र्यकी खोज, टूटती हुई नैतिक रूढ़ियोंके बीच नीतिके मूल-स्रोतकी खोज है। कह लीजिए कि समाजकी खोखली सिद्ध हो जानेवाली मान्यताओंके बदले व्यक्तिकी दृढ़तर मान्यताओंकी प्रतिष्ठा करनेकी कोशिश है। मैं मानता हूँ कि चरम आवश्यकताके, चरम दबावके, निर्णय

करनेकी चरम आवश्यकताके क्षणमें हर व्यक्ति अकेला होता है : और उस अकेलेपनमें वह क्या करता है इसीमें उसके आत्मिक धातुकी कसौटी है।"

"यह तो घोर व्यक्तिवादी दृष्टिकोण है।"

—"एक अराजकवादीके मुँहसे इस आलोचनाको मैं निन्दा तो नहीं मान सकता !"

"लेकिन पाठकपर प्रभावकी बात तो रह ही जाती है। हर कोई अपनेको ही प्रमाण मानने लगेगा तो समाज कैसे बना रहेगा ?"

—"ऐसा ख़तरा बिलकुल नहीं है, यह तो मै नहीं कह सकता। लेकिन कोई भी बड़ा परिवर्तन लानेके लिए जोखम तो उठाना पड़ता है। और यह ज़रूरी है कि हर पाठक—हर व्यक्ति—समझे कि उसे नैतिक आचरण करना है तो इस लिए नहीं कि वैसी रूढ़ि है, बल्कि इस लिए कि उसमे वैसी अन्तःप्रेरणा है। समाजमें ऐसे बहुतसे लोग होते हैं जो नैतिक मूल्यमें विश्वास नहीं करते पर उसके विरुद्ध आचरण भी नहीं करते—चाहे लोक-भयसे, चाहे सुविधाकी कमीसे, चाहे प्रेरणा ही की कमीसे सही। फिर ऐसे भी हैं कि मूल्योंको मानते तो हैं पर आचरण उनके विरुद्ध करते हैं—चाहे दुर्बलताके कारण, चाहे और किसी कारण। ये दोनों प्रवृत्तियाँ ग़लत हैं, और समाजके सही निर्माणमें योग नहीं देतीं। इनसे यह कहीं अच्छा है कि कर्म और विश्वासमें सामंजस्य लानेके लिए नैतिक व्यवस्थाको ख़तरेमें पड़ने दिया जाय। वह कुछ मिलाकर व्यक्तिके लिए ही नहीं, समाजके लिए भी श्रेयस्कर है। समाजकी नैतिक या आचरण-सम्बन्धी मान्यताएँ उसकी इकाइयोंकी मान्यताओंकी औसत होती हैं, इस लिए उस औसतके स्तरको जो भी ऊँचा उठाता है पूरे समाजको उठाता है। मान्यता और कर्मका अविरोध स्वयं एक बड़ा आदर्श है—नैतिक मूल्य है। यही ईमानदारी है। सामाजिक रूढ़िसे ऊँचे आत्माकी प्रतिष्ठासे कैसे किसी पाठकका अहित हो सकता है मैं नहीं समझता। आप पूछते हैं कि आदमी अपनेको ही प्रमाण

मानने लगेगा तो समाज कैसे बना रहेगा ? इसमें एक तो यह ध्वनि है कि समाज जो मानता है और व्यक्ति जो मानता है उसमें अनिवार्यतया विरोध है—ऐसा ही हो, तो आप ही बताइए, किसीके भी किसीको भी प्रमाण माननेसे भी, कोई भी कैसे बना रहेगा ?

''लेकिन इसे छोड़ें भी, तो प्रश्न यह रहता है व्यक्तिको जो सत्य दीखता है, उसे अनदेखा करके वह जो उसे झूठ दीखता है उसे मानता चले—जो स्थिति कि अपनेको प्रमाण न माननेमें निहित है—तो इसपर क्या समाज, आपके शब्दोंमें 'बना रहेगा' ? सच्चाईमें जोखम है—पर जोखम बचनेकी गुंजाइश तो है जब कि पाखण्ड निश्चित मरण है—नीरन्ध्र, अमोघ सर्वनाश।''

''आपके इन उत्तरोसे मुझे पूर्ण सन्तोष तो नहीं हुआ, पर आपके दृष्टिकोणको सामने रखकर एक बार फिरसे **'शेखर'**को पढ़नेकी तीव्र इच्छा अवश्य उत्पन्न हुई है।''

—''तब तो मैं कृतार्थ हुआ।''

●

'नदीके द्वीप' : क्यों और किसके लिए

अपनी किसी कृतिके बारेमें कुछ कहनेका आकर्षण कितना खतरनाक है, इसको वे लोग पहचानते होंगे जिन्होंने कवि-सम्मेलनों आदिमें कवियोंको अपनी कविताकी व्याख्या करते सुना है। कृतिकारको जो कहना है, जब उसने कृतिमे वह कहा ही है, और मानना चाहिए कि यथाशक्य सुन्दर रूपमे ही कहा होगा, तब क्यों वह उसे कम सुन्दर ढंगसे कहना चाहेगा? एक जबाब यह हो सकता है कि जो कृतिमें सुन्दर ढगसे कहा गया है, वह व्याख्यामें सुबोध ढंगसे कहा जायगा। तो इस जवाबमे सुन्दर और सुबोधका जो विरोध मान लिया जाता है, उसे कमसे कम मैं तो स्वीकार नहीं करता। सुबोधता भी सौन्दर्यका ही एक अंग है या होना चाहिए। ऐसा ज़रूर हो सकता है कि वस्तुके अनुकूल रूप-विधानमे—और इस अनुकूलतामे ही सौन्दर्य है—सुबोधता इस लिए कम हो कि वह वस्तु भी वैसी हो। तब इस दशामें सुबोध बनानेमे हम वस्तुसे कुछ दूर ही चले जावेंगे। कोई भी वस्तु, कृतिमें अपने सुन्दरतम और इस लिए सुबोधतम रूपमे आनी चाहिए, तभी वह कृति कला-कृति है। अगर वह सुबोधतम होकर भी सहज सुबोध नहीं हुई है, तो यह तभी हो सकता है कि उस स्थितिमें वह वस्तु अधिक सुबोध नहीं हो सकती, और अगर ऐसा है तो व्याख्या सुबोध तभी होगी जब वह कृतिके सम्पूर्णको खंडित करके उसके खण्डको ही—या अलग-अलग खण्डोंको ही देखें।

'नदीके द्वीप'में भूमिका नहीं है। इसीलिए नहीं है कि मैंने सीख लिया, उपन्यासमे उपन्यासकारको जो कहना है, वह उपन्याससे ही प्राप्य होना चाहिए; न सिर्फ़ होना चाहिए, उपन्याससे ही हो सकता है, नहीं तो फिर उपन्यासकारने वह कहा ही नहीं है। मैं क्यों मान लूँ कि मेरा पाठक इतना

बुद्धि-सम्पन्न नहीं होगा कि मेरी बात पहचान ले ? बल्कि इतना ही नहीं, यह भी तो सम्भव है कि मैंने जो कहा है, उसे मैं स्वय दूसरे रूपमें उतना ठीक न पहचानूँ, न जानूँ ? स्पष्ट है कि कहानीकार भी इस बातको मानता है कि 'कहानीपर विश्वास करो, कहानीकारपर मत करो'। नहीं तो कहानी क्यों लिखता, विना कहानीके ही निरी व्याख्या क्यों न लिख डालता ? ऐसे भी लेखक है जिन्होंने कृतिसे बड़ी भूमिकाएँ लिखी है—कभी-कभी भूमिकाएँ ही पहले और प्रधान मानकर लिखी है, और फिर कृतिमें केवल भूमिकामे प्रतिपादित सिद्धान्तोंको उदाहृत कर दिया है। लेकिन ऐसी दशामें भूमिकाको ही कृति मानना चाहिए, और तथा-वर्णित कृतिको उसकी एक अलंकृति, एक दृष्टान्त।

'नदीके द्वीप' व्यक्ति-चरित्रका उपन्यास है। इससे इतर कुछ वह क्यों नहीं है, इसका मैं क्या उत्तर दूँ ? और दूँ ही, तो वह मान्य ही होगा ऐसा कोई आश्वासन तो नही है। व्यक्ति अपने सामाजिक संस्कारोंका पुंज भी है, प्रतिबिम्ब भी, पुतला भी; इसी तरह वह अपनी जैविक परम्पराओंका भी प्रतिबिम्ब और पुतला है—'जैविक' सामाजिकके विरोधमें नही, उससे अधिक पुराने और व्यापक और लम्बे सस्कारोंको ध्यानमे रखते हुए। फिर वह इस दायपर अपनी छाप भी बैठाता है, क्योंकि जिन परिस्थितियोंसे वह बनता है उन्हींको बनाता और बदलता भी चलता है। वह निरा पुतला, निरा जीव नहीं है, वह व्यक्ति है, बुद्धि-विवेक-सम्पन्न व्यक्ति। तो अब हम चाहें तो व्यक्तिको जैसा वह है वहींसे ले सकते हैं, उस बिन्दुसे आरम्भ करके उसकी गति-विधिको देख सकते हैं, या फिर मुख्यतया इसीपर विचार कर सकते हैं कि वह जैसा है वैसा हुआ क्यों; और वैसा होकर वह क्या कर रहा है, इसे गौण मान ले सकते हैं। पहलेमें सामाजिक शक्तियोंको निहित मान कर चलते हैं और व्यक्ति-चरित्र ही सामने होता है, दूसरेमें व्यक्ति गौण होता है और सामाजिक शक्तियाँ ही प्रधान पात्र हो जाती हैं। जहाँ तक शिल्प-विधानका प्रश्न है, दोनों प्रक्रियाएँ अपना स्थान रखती

हैं, दोनोंकी विशेषताएँ और मर्यादाएँ हैं। और दोनोंके अपने-अपने जोखम भी। सतर्क कलाकार जोखमसे बचकर चल सकता है। शतरंजका खेल देखें, तो राजा-वजीर हाथी-घोड़े आदि मोहरोंको राजा-वज़ीर, हाथी-घोड़ा ही मानकर खेलका विकास देख सकते हैं, या फिर उन सबकी प्रवृत्तियों और मर्यादाओं और चालोंको गौण या 'स्थिति-जन्य' कहकर इसी अनुसन्धानमें लग सकते हैं कि क्यों राजा राजा है और प्यादा प्यादा, या घोड़ा क्यों अढ़ाई घरकी चाल चलता है और हाथी तिरछी; या क्यों प्यादा बढ़कर वज़ीर तक बनता है, राजा नहीं, और क्यों राजा प्यादा नहीं बनता। या यह भी सोचा जा सकता है कि प्यादेको वज़ीर मान लें और घोड़ेको प्यादा तो खेल कैसा चले? वह भी बड़ा रोचक अनुसन्धान हो सकता है, चाहे यह प्रश्न रह ही जाय कि क्या वह शतरंज फिर भी **है**?

तो मेरी रुचि व्यक्तिमें रही है और है; **'नदीके द्वीप'** व्यक्ति-चरित्रका ही उपन्यास है। घटना उसमें प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपसे काफ़ी है, पर घटनाप्रधान उपन्यास वह नहीं है। **'शेखर'**की तरह वह परिस्थितियोंमें विकसित होते हुए एक व्यक्तिका चित्र और उस चित्रके निमित्तसे उन परिस्थितियोंकी आलोचना भी नहीं है। वह व्यक्ति-चरित्रका—चरित्रके उद्घाटनका उपन्यास है। उसमे पात्र थोड़े हैं; बल्कि कुल चार ही पात्र हैं। चारोंमें फिर दो, और दोमें फिर एक और भी विशिष्ट प्राधान्य पाता है। **'शेखर'**से अन्तर मुख्यतया इस बातमें है कि **'शेखर'**में व्यक्तित्वका क्रमशः विकास होता है; **'नदीके द्वीप'**में व्यक्ति आरम्भसे ही सुगठित चरित्र लेकर आते हैं। हम जो देखते हैं वह अमुक स्थितिमें उनका निर्माण या विकास नहीं, उनका उद्घाटन भर है। और चार पात्रोंमें जो दो प्रधान हैं उनपर यह बात और भी लागू होती है; बाक़ी दो पात्रोंमें तो कुछ क्रमिक विकास भी होता हैं। आप चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि

'नदीके द्वीप' चार संवेदनाओंका अध्ययन है। उसमें जो विकास है, वह चरित्रका नहीं, संवेदनाका ही है।

उपन्यास क्या है या क्या नहीं है, इसको लेकर बहुत बहस हो सकती है, लेकिन उसमें लेखकका कोई सम्पूर्ण जीवन-दर्शन नहीं तो जीवनके सम्बन्धमें विचार तो प्रकट होते ही हैं। **'नदीके द्वीप'**के लेखकके वे विचार क्या हैं ? यहाँ कहना होगा कि वे स्पष्ट कम ही कहे गये हैं, लेखक की ओरसे तो बिलकुल नहीं, पात्रोंकी उक्तियों या कर्मोमें सीधे या प्रतीप-भावसे ही वे प्रकट होते हैं, और वह भी सम्पूर्ण जीवनके सम्बन्धमें नहीं, उसके पहलुओंके। **'नदीके द्वीप'** एक दर्द-भरी प्रेम-कहानी है। दर्द उनका भी जो उपन्यासके पात्र हैं, कुछ उनका भी जो पात्र नहीं हैं। किसी हद तक वह कहानी असाधारण भी है--जैसे कि किसी हद तक पात्र भी असाधा-रण हैं—सब नहीं तो चारमें-से तीनके अनुपातसे। लेकिन इस हद तक असाधारणता दोष ही होती है, ऐसा मैं नहीं मान लूँगा। **'नदीके द्वीप'** समाजके जीवनका चित्र नहीं है, एक अगके जीवनका है; पात्र साधारण जन नहीं हैं, एक वर्गके व्यक्ति हैं और वह वर्ग भी सख्याकी दृष्टिसे अप्रधान ही है; लेकिन कसौटी मेरी समझमें यह होनी चाहिए कि क्या वह जिस भी वर्गका चित्रण है, उसका सच्चा चित्र है ? क्या उस वर्गमें ऐसे लोग होते हैं, उनका जीवन ऐसा जीवन होता है, सवेदनाएँ ऐसी सवेदनाएँ होती हैं ? अगर हाँ, तो उपन्यास सच्चा और प्रामाणिक है, और उसके चरित्र भी वास्तविक और सच्चे हैं, न साधारण टाइप हैं, न असाधारण प्रतीक हैं। और मेरा विश्वास है कि **'नदीके द्वीप'** उस समाजका, उसके व्यक्तियोंके जीवनका जिसका वह चित्र है, सच्चा चित्र है। निस्सन्देह उपन्यासके मूल्यांकनमें इससे आगे भी जाना होता है, इस प्रश्नका उत्तर खोजना होता है कि लेखकमें तटस्थता कितनी है, अमुक वर्गके सस्कारोंसे वह कहाँ तक असम्पृक्त रह सका या हो सका है। पर वह बात पात्रोंकी या वस्तुकी असाधारणतासे अलग है।

वास्तविकताके इस निर्वाहके साथ **'नदीके द्वीप'**में एक आदर्श-परकना भी है। वास्तव और आदर्शमे कोई मौलिक विरोध नहीं होता, यह कहना शायद आवश्यक नहीं है। इतना ही है कि जो आदर्श वास्तवकी भूमिसे नहीं उठता, वह निराधार ही रहता है, उसे पाया नहीं जा सकता, उसकी ओर बढ़ा नहीं जा सकता, वह जीवन नहीं देता। तो **'नदीके द्वीप'**में क्या आदर्श है ? कदाचित् यह मुझे कहनेकी कोशिश भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जैसा मैंने आरम्भमें कहा, यही वह क्षेत्र है जहाँ कथाकारकी ओर नहीं, कथाकी ओर देखना चाहिए। कथासे अलग आदर्शको निकाल कर मैं कहना चाहता या कह सकता तो कथा क्यों लिखता ? यों उपन्यासके आरम्भमें सूत्र-रूपसे जो दो उद्धरण दिये गये है—एक शैलीका, एक स्वय लेखककी कवितासे, वे अर्थ रखते है : दर्दमें भी जीवनमें आस्था, जीवनका आश्वासन—जो शेलीके सन्दर्भसे ध्वनित होता है; और दर्दसे मँज कर व्यक्तित्वका स्वतन्त्र विकास, ऐसा स्वतन्त्र कि दूसरोंको भी स्वतन्त्र करे—जो 'अज्ञेय'के सन्दर्भसे ध्वनित होता है। आदर्शके ये दो सूत्र कथामें है, चरित-नायक भुवन एकको ध्वनित करता है तो मुख्य स्त्री-पात्र रेखा दूसरेको। चन्द्रमाधव और गौरा स्वतन्त्र व्यक्ति भी हैं, और भुवन तथा रेखाके प्रति-चित्र भी। चारों एक ही समाज या वर्गके प्राणी है। पर चन्द्रमाधवका चरित्र-विकास विकृतिकी ऐसी ग्रन्थियोंसे गुथीला हो गया है कि उसका विवेक भी उसे कुपथ पर ले जाय, और उसकी सदोन्मुखता आत्म-प्रवचनाके कारण है। इसीमें वह भुवनका प्रति-भू है। दूसरी ओर गौरा तथा रेखा भी प्रत्यवस्थित किये गये हैं। त्यागकी स्वस्थ भावना एकको दृष्टि देती है तो दूसरीमें एक प्रकारके आत्म-हननका ही कारण बनती है—यद्यपि उसकी भावना इतनी उदात्त है कि हम उसे अपनी सहानुभूति दे सकें। यानी आप दे सकें—क्योंकि मैंने तो सभी पात्रोंको अपनी सहानुभूति दी है। भले ही साधारण सामाजिक जीवनमें कुछसे मिलना-जुलना चाहूँ, कुछसे बचना चाहूँ, पर अपनी कृतिके क्षेत्रमें तो सभी मेरी समवेदनाके पात्र है।

शिल्पके बारेमे मेरा कुछ न कहना ठीक है, पर नामके बारेमें एक बात कह दूँ। इस नामकी मेरी एक कविता भी है। पर दोनोंमे विशेष सम्बन्ध नहीं है। उपन्यास लिखना आरम्भ करनेसे पहले, जब मैं उसे लिख डालनेके लिए कहीं जा छिपनेकी बात सोच रहा था तब दो-एक मित्रोंने पूछा था कि नाम क्या होगा। मैंने तब तक निश्चय नहीं किया था। उन्हीसे पूछा—"आप ही सुझाइये।" कविताके कारण ही एक मित्रने यह सुझाया; मैंने कहा, "अच्छा, यही सही।" फिर मेरे लिखना आरम्भ करनेसे पहले ही नामका विज्ञापन भी हो गया। यों नामका निर्वाह उपन्यासमे हो गया है, ऐसा मेरा विश्वास है।

'नदीके द्वीप' मैंने किसके लिए लिखा है? अगर कहूँ कि सबसे पहले अपने लिए, तो यह न समझा जाय कि यह पाठककी अवज्ञा करना है। कदापि नहीं। बल्कि मै मानता हूँ कि जो अपने लिए नहीं लिखा गया, वह दूसरेके सामने उपस्थित करने लायक़ ही नहीं है। यहाँ 'अपने लिए'की शायद कुछ व्याख्या अपेक्षित है। 'अपने लिए,' अर्थात् अपनेको यह बात सप्रमाण दिखानेके लिए कि मेरी आस्था, मेरी निष्ठा, मेरे सवेदना-जालकी सम्पूर्णता और सच्चाई, मेरी इटेग्रिटी उसमे अभिव्यक्त हुई है। जब तक अपने सामने इसका जवाब स्पष्ट न हो तब तक दूसरेके सामने किसी लेखकको जाना नहीं चाहिए; उससे भूल हो यह दूसरी बात है।

फिर, अपने बाद, संवेदनशील, विचारवान्, प्रौढ़ अनुभूतिके पाठकके लिए। स्पष्ट है कि ऐसा कहना, यह कहना नहीं कि जन-जनार्दनके लिए। साहित्य पाठकमें कुछ तैयारी, अनुकूलता और परिपक्वता माँगता ही है। पुराने आचार्य तो इसे मानते ही आये, आज-कल भी यह मत नितान्त अमान्य तो नहीं है। जनकी दुहाई देने वाले भी प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष रूपसे मानते हैं कि पाठककी सवेदनाओंकी व्यापकता और परिपक्वताका कुछ

महत्त्व होता है। तो—क्या **'नदीके द्वीप'** मैंने आपके लिए लिखी है ? यदि आप यहाँ तक मेरी बात ध्यान दे कर पढ़ते रहे हैं तो कहूँगा कि हाँ, आपके लिए भी, फिर आप चाहे जो हों। और यदि इससे पहले ही आप ऊब चुके हैं, या दूसरा कोई मत बना चुके हैं, तो फिर मेरी हाँ भी आप तक कैसे पहुँचेगी ?

और अगर आज आपमें वह परिपक्वता नहीं है तो ? तो आपके शुभेच्छुके नाते मैं मनाता हूँ कि कल वह हो !

●

श्लील और अश्लील*

"साहित्यमें श्लील और अश्लीलका प्रश्न उठाना कहाँ तक उचित है? श्लील और अश्लीलकी परिभाषा क्या, मर्यादा क्या?"

—श्लील और अश्लीलका प्रश्न नया नहीं है। समय-समयपर अलग-अलग प्रकारके लोगोंने इसे उठाया है। यह कहना कठिन है कि इस प्रश्नको उठानेवाले सभी व्यक्तियोंकी दृष्टि असाहित्यिक रही है, यद्यपि अधिकतर ऐसे लोगोंने प्रश्नको साहित्यके बाहरसे ही देखा है। कुछकी दृष्टि तो अत्यन्त सकुचित रही है; कुछने केवल अपनी कुण्ठा और दुर्बलताका आरोप साहित्यपर किया है। पर हम मान भी लें कि प्रश्न उठानेवाले सभी बड़े विवेकी और नीतिवान् रहे, तो भी इस बातकी ओर ध्यान देना आवश्यक है कि प्रश्नका अन्तिम उत्तर कोई नहीं पा सके। यह इसीलिए आवश्यक है कि जो कुछ भी उत्तर या सही दृष्टिकोण हो सकता है, उस तक पहुँचनेके लिए सबसे पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि श्लील और अश्लील देश-कालपर आश्रित हैं। उनकी कोई परिभाषा न केवल शाश्वत नहीं हो सकती वरन् आत्यन्तिक भी नहीं हो सकती। श्लील और अश्लील केवल समय (कनवेंशन) हैं; जो हर समाज और सामाजिक स्थितिके अपने अलग-अलग होते हैं। इसीलिए जिस सस्कृत काव्यको एक दिन आर्य-साहित्यका गौरव समझा जाता था, उसे दूसरे दिन गर्हणीय घोषित किया जा सका; जो ग्रन्थ लिखकर प्रणेता एक दिन 'ऋषि' गिने गये उसे दूसरे दिन एक 'राजर्षि' ने 'भारतका कलंक' ठहरा दिया। नागर

*** ये प्रश्न 'ज्ञानोदय' के सम्पादक द्वारा प्रस्तुत किये गये थे; उत्तर उस पत्रके 'प्रणय अंक' में छपे थे।**

समाज 'ग्राम्यता' को अश्लीलताका पर्याय मानता है; ग्राम-समाज शोहदा-पन और शहरीपनको एक समझता है....

क्या श्लील और अश्लीलकी कलागत मर्यादाका विचार करते समय वे ही मानदण्ड लागू होंगे जो जीवन-गत नैतिक मर्यादाओंका विचार करते समय लागू होते हैं ?

—श्लील और अश्लीलका प्रश्न तत्कालीन सामाजिक नैतिकताका प्रश्न है। साहित्यका प्रश्न वह नहीं है। उसी प्रश्नको जब सुन्दर-असुन्दरका प्रश्न बनाकर हम साहित्यकी मर्यादाके भीतर लाते हैं, तब वास्तवमें प्रश्न वही रहता ही नहीं, दूसरा ही हो जाता है। यह उल्लेख्य है कि जहाँ श्लील और अश्लीलके बारेमें कभी नीतिवादियोंमें भी एकमत नहीं हो सका, वहाँ इसी प्रश्नके साहित्यिक प्रतिरूपके बारेमें साहित्य-स्रष्टा प्रायः एकमत रहे हैं।

देखना अश्लील नहीं है, अधूरा देखना अश्लील है। इतना ही नहीं, शिशु और माताकी एक दूसरेके सम्मुख नग्नता नंगापन या अश्लीलता नहीं है; यह भी कि अनुरागबद्ध प्रणयी-युगलकी एक-दूसरेके सम्मुख नग्नता भी नंगापन या अश्लीलता नहीं है। वहाँ अश्लीलता उसीको दीखती है, जो अधूरा देखता है—जो केवल नंगापन देखता है, उसे औचित्य देनेवाली पूर्णताको नहीं। यह बात जितनी पाठकके बारेमें लागू है उतनी ही लेखकके बारेमें; अगर वह वैसा देखता है, या दिखाना चाहता है, तो वह अश्लील है क्योंकि वह अधूरा है अर्थात् असाहित्यिक है।

कलाकारके लिए जीवनमें क्या आवश्यक है, प्रश्नको इस रूपमें पूछना मतिभ्रम पैदा करना है। जो समाजमें जीता है, उसका समाजके साथ पारस्पर्य स्वाभाविक और अनिवार्य है। वह समाजसे चाहता है कि समाज उसको पनपने और पुष्ट होने दे; समाज उससे ठीक यही चाहता है। यह इस समझौतेका अंग है कि व्यक्ति सामाजिक आचरणके कुछ नियम माने।

ऐसा हो सकता है कि व्यक्तिको समाजकी तत्कालीन मान्यताएँ ग़लत और असह्य जान पड़ें; जैसे कि ऐसा भी होता है कि समाजको व्यक्तिके विचार या आचरण ख़तरनाक जान पड़ें। तब टकराहट होती है या नया सन्तुलन होता है, या कोई टूटता है या बहिष्कृत होता है या हट जाता है। जहाँ तक नये समय या कनवेंशनका प्रश्न होता है, जो जयी है वही ठीक है—क्योंकि प्रतिष्ठितका ही नाम मर्यादा है। किन्तु कनवेंशनके क्षेत्र से अलग इस संघर्षका भी ऐतिहासिक मूल्यांकन अलग ढंगसे हो सकता है। और जहाँ साहित्यका प्रश्न है, वहाँ तो आचरण-सम्बन्धी यह सारा सघर्ष ही बेमानी है। जिस कलाकृतिके रचयिताके जीवन और आचरणके बारेमे हम कुछ नहीं जानते, क्या यह कहना होगा कि उसका मूल्यांकन हम नहीं कर सकते ? और अगर एक कृतिके मूल्यांकनमें कृतिकारके जीवनका ब्यौरा अप्रासंगिक है, तो दूसरी कृतिके साथ वैसा क्यों नहीं— क्यों न ऐसे ब्यौरेको साहित्यिक प्रतिभामें से अलग कुछ माना जाय ?

कोई सामाजिक प्राणी सामाजिक रूढ़िको ग़लत मानता है तो उसे तोड़नेके लिए—या सही मूल्योंकी प्रतिष्ठाके लिए—वह कितना जोखम उठानेको तैयार है, यह उसका निजी प्रश्न है। कुछ 'निबाह ले चलने'में कल्याण समझते हैं, कुछ अड़ना ठीक समझते हैं फिर चाहे जो हो।

साहित्यमे कृतिकार अगर किसी साहित्यिक रूढिको—चाहे वह तत्कालीन सामाजिक मूल्योंसे ही सम्बन्ध रखती हो—ग़लत समझता है तब उसके सामने भी ठीक वही प्रश्न होता है : निबाहता चलूँ, या लड़ मरूँ ? कुछ निबाहते चलते है, कुछ लड़ मरते हैं। कुछ लड़ जाते है और मरते भी नहीं, कुछ अमर ही हो जाते हैं। प्रतिक्रिया साहित्यकारकी शिक्षा-दीक्षा, प्रवृत्ति, चरित्र और सामर्थ्यपर निर्भर है, परिणाम इन सबके अलावा परिवेश पर भी—सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थिति पर भी...

क्या प्रत्येक कलाकारके लिए आवश्यक है कि वह अपनी कृतिकी महत्ता और स्थायित्वकी दृष्टिसे स्वयं भी आचारगत और विशेषकर

प्रणय-सम्बन्धी सामाजिक मान्यताओंसे बँधकर चले ? अपवादोंके विषयमें आप क्या कहेंगे ?

—प्रश्नको जितना मैं समझा हूँ, उसका उत्तर ऊपरकी बातोंमें निहित है। कृतिकी महत्ता, या उसके स्थायित्वकी सम्भावना, बाहरकी बातोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रखती, और लेखकके जीवनकी घटनाएँ भी इस सन्दर्भमें 'बाहरकी बातें' है। बड़े-बड़े नीतिध्वजी बकवास लिख गये; कभी कोई आवारा भी बड़ी चीज़ लिख गया। यह नहीं कि जीवनकी घटनाओंका कोई असर रचनापर नहीं पड़ता; केवल इतना कि साहित्यमे हमारा वास्ता केवल उस असरसे है जो कि कृतिमे लक्ष्य है, जीवनकी घटनासे नहीं।

आपकी जिन विशेष कृतियों और पात्रोंके सम्बन्धमें अश्लीलता का आरोप किया गया है, उनके पक्ष-विपक्षमें रचयिताकी हैसियतसे आपका मन्तव्य क्या है ?

—इस विषयमें क्या कह सकता हूँ जब कि, अगर मेरा साधारण निरूपण ठीक है तो, पक्ष-विपक्ष रहते ही नहीं ? अगर मैं स्वयं देख सकता हूँ कि मेरा देखना अधूरा देखना है, तो क्या मैं पूरा न देखूँगा ? उदाहरण भर दे सकता हूँ : **'नदीके द्वीप'** में अश्लीलता किसी वर्णनमें नहीं मानता; दृष्टिमें वह है तो न लेखककी और न रेखा या भुवनकी; बल्कि चन्द्रमाधवकी दृष्टिमें वह है। कह सकते हैं कि भुवन या रेखा वास्तविक नहीं हैं, चन्द्रमाधव अधिक वास्तविक है; जो कहते है मुझे उनसे बहस नहीं क्योंकि शायद यह ठीक ही है कि थोड़ी बहुत अश्लीलता ही अधिक वास्तविक है····

एक आलोचना-विशारदाने **'नदीके द्वीप'** के स्त्री-पात्रोंको इसलिए अस्वाभाविक और असम्भव बताया है कि उनमें ईर्ष्या नहीं है। मेरे निकट ईर्ष्या भी अधूरी दृष्टिका, अपरिपक्वताका, परिणाम है। एक वय में—वय मानसिक भी होता है—ईर्ष्या स्वाभाविक हो सकती है; पर मैं मानता हूँ कि बच्चा बड़ा भी हो सकता है। युवतीके लिए—हिन्दी

उपन्यासकी नायिकाके लिए भी !—वयस्क हो जाना नितान्त अस्वाभाविक नहीं है।

अश्लीलका अस्तित्व या उद्भव कहाँ है ? प्रणय-व्यापारमें, या उसके चित्रणमें, या कलाकारके मनमें, या कहीं और ?

—अगर प्रश्नको 'रसका अस्तित्व कहाँ है ?' वाले शुद्ध किताबी प्रसग में नहीं देखना है, तो उत्तर उतना कठिन नहीं है। शर्म आँखोंकी होती है, तो उघड़ापन भी आँखोंमें होता है। अगर लेखककी दृष्टि अधूरी, उघड़ी (अतएव असाहित्यिक) थी तो अश्लीलता वहीं है, और उससे उत्पन्न लेखनमे भी ; अगर पाठककी दृष्टि वैसी है तो वहाँ।

प्रश्नका एक पहलू और हो सकता है; कि कोई रचना अगर अपरिपक्व पाठकमे असामाजिक भावनाएँ जगाती है, तो क्या वह खतरनाक नहीं है ? 'सेंसरशिप'का यह प्रश्न साहित्यका नहीं, सामाजिक नियन्त्रणका प्रश्न है। दवाएँ ख़तरनाक हो सकती हैं, उनके वितरणका नियन्त्रण केवल प्रयोक्ताको ही नहीं, दवाको भी दुरुपयोगसे बचाता है। सामाजिक स्वास्थ्यका यह प्रश्न समस्याका एक स्तर है। एक दूसरा भी है : दवा तो यों भी विशिष्ट प्रयोगकी चीज़ है : रुग्णावस्थासे सम्बन्ध रखती है। पर बच्चेके लिए तो गर्म दूधसे भी खतरा हो सकता है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि गर्म दूध बुरा है, केवल रोगीका खाद्य है। तब ?

इस 'तब' का उत्तर भी साधारण जीवनकी समस्या है, साहित्यकी नहीं; पर होती भी तो यही उत्तर होता कि "तब वही कीजिए जो साधारण जीवनमें करणीय है"—ऐसी व्यवस्था रखिए कि बच्चा और गर्म दूध दोनों एक दूसरेसे बचे रहें, और बच्चा प्रकट निषेधसे होने वाले आकर्षण से भी बचा रहे !

●

रेखाकी भूमिका*

'नदीके द्वीप' में श्लील और अश्लीलके सम्बन्धमें जो प्रश्नोत्तर छपे थे, उसकी बातोंको नहीं दोहराऊँगा। मुझे स्मरण है कि मैंने बात-चीतके सिलसिलेमें पटनेमें कहा था कि 'अश्लीलताकी परिभाषा युगके साथ बदलती रहती है'। आपने इसका स्पष्टीकरण चाहा है। जो जुगुप्सा उत्पन्न कर दे वह अश्लीलता है, यह अश्लीलकी एक परिभाषा है। जुगुप्साका अर्थ है गोपन करनेकी इच्छा। और यह स्पष्ट होना चाहिए कि छिपने-छिपाने की इच्छा जिन परिस्थितियोंमें होती है वे निरन्तर बदलती रहती है। इसलिए इस अधूरी परिभाषाकी दृष्टिसे भी अश्लीलताका अर्थ बदलता रहता है। इसके अलावा मनोविज्ञानने मूल प्रवृत्तियोंके बारेमे जो नयी दृष्टि दी है उससे जो परिपक्वता पाठकको मिली है (या मिलनी चाहिए) उसने भी अश्लीलताके क्षेत्रको संकुचित कर दिया है। जैसे बच्चेकी नग्नता बड़ोंमें जुगुप्सा नहीं उत्पन्न करती, बल्कि बड़े बच्चोंको क्रमशः यह सिखाते है कि अपने समाजके पहरावेके नियमोंके अनुरूप सकोचका भाव उनमें जागना चाहिए; उसी प्रकार साहित्यिक क्षेत्रमे भी जब अपरिपक्वको परिपक्वके सम्मुख लाया जाता है तब जुगुप्सा नहीं होनी चाहिए—और ऐसे साक्षात्में अश्लीलता नहीं माननी चाहिए। अगर मेरी यह स्थापना उचित

---

* यह एक पत्रके कुछ अंश हैं जो एक अध्येता द्वारा पूछे गये कुछ प्रश्नोंके उत्तरमें लिखा गया था। पत्रमें रेखाके चरित्रके अतिरिक्त भी कुछ बातोंका उल्लेख है, किन्तु सभी 'नदीके द्वीप' से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे सम्बद्ध हैं, अतः शीर्षकमें अव्याप्ति दोष होने पर भी आशा है कि वह भ्रामक न होगा।

है कि मनोविश्लेषणकी नयी खोजोंने हमें परिपक्वता दी है तो स्पष्ट है कि उससे अश्लीलताकी परिधि भी बदली है। यह ठीक है कि बहुतसे पाठकोंमें वह परिपक्वता नहीं होती जिसकी आज हम अपेक्षा कर सकते हैं, लेकिन इस परिस्थितिमें जो करना चाहिए उसका सकेत मैंने 'प्रश्नोत्तर' में दे दिया है। जो नियमन समाजको करना चाहिए, उसे लेखक अपने ऊपर ओढ़ ले या ओढ़ना चाहे तो वह निरा दम्भ ही होगा—वैसे ही जैसे जो काम राज्यशक्तिके क्षेत्रके होते हैं उन्हे व्यक्तिका अपने ऊपर ओढ़ना चाहना दम्भ होगा—या मूर्खता।

* * *

रेखा **'नदीके द्वीप'** का सबसे अधिक परिपक्व पात्र है। यह मैं पहले लिख चुका हूँ कि मेरी दृष्टिमें वही उपन्यासका प्रधान पात्र भी है। वही अपनी भावनाओंके प्रति सबसे अधिक ईमानदार है और अपने प्रति सबसे अधिक निर्मम। एक दूसरी तरहकी ईमानदारी चन्द्रमाधवमे भी है लेकिन वह दस्युकी ईमानदारी है—जो नोच-खसोटकर पा लेना चाहता है किन्तु मूल्य चुकानेको तैयार नहीं है।

रेखाका जीवन-ध्येय और जोवन दर्शन ? इस प्रश्नका उत्तर मेरे लिए कठिन है। और शायद यह लेखकके क्षेत्रसे बाहरकी भी बात है। क्योंकि इस विषयपर कहानीमे जो नहीं मिलता है वह प्रस्तुत किया जाकर अविश्वास्य रहेगा। इतना शायद कहानीमेंसे निकाला जा सकता है कि रेखा अपनी भावनाओंके प्रति सच्ची रहना चाहती है, भीतरके प्रति अपने उत्तरदायित्वको उसने समर्पणकी सीमा तक पहुँचा दिया है। जहाँ यह व्यक्तिकी बहुत बड़ी शक्ति है, व्यक्तित्वके विकासका एक उत्कर्ष है, वहाँ यह उसकी एक पराजय भी है। क्योंकि केवल 'अपनेमें जो है उसके प्रति समर्पण' काफ़ी नहीं है। अपनेसे बाहर और बड़ा भी कुछ है जिसके प्रति भी उतना ही निस्संग समर्पण वास्तवमें चरित्रकी पूर्ण विकसित और परिपक्व अवस्था है। रेखाकी ट्रेजेडी उसके इसी समर्पणके अधूरेपनकी ट्रेजेडी है—जितना ही वह पूरा है उतना ही वह अधूरा है क्योंकि वह अधूरेके

प्रति है। ट्रेजेडी तब होती है जब जो 'दण्ड' मिलता है वह भोक्ताके 'दोषों' के कारण नहीं, उसके **गुणोंकी त्रुटियोंके** कारण मिलता है—"फ़ार द फ़ाल्ट्स आफ़ देयर वर्चूज़ ।"

टेकनीककी दृष्टिसे दोनों स्त्री-पात्र—रेखा और गौरा, तथा दोनों पुरुष-पात्र—भुवन और चन्द्रमाधव, प्रत्यवस्थित (काउंटरपोज़) हो गये हैं। किन्तु वास्तवमें स्थिति यह नहीं है कि दोनों स्त्री-पात्र एक दूसरेके चरित्रको उभारते हैं, या दोनों पुरुष-पात्र एक दूसरेको। वास्तवमें उपन्यासके प्रति-चरित्र रेखा और चन्द्रमाधव हैं। रेखा भावनाकी सच्चाईके प्रति समर्पित है या होना चाहती है, चन्द्रमाधव सहज प्रवृत्तिकी तृप्तिको ही अपना लक्ष्य बनाता है। रेखाका आदर्श है दान, चन्द्रमाधवका लब्धि। इसीलिए रेखामें ईर्ष्या नहीं है और चन्द्रमाधवमें प्रेम उसके विना मानो अभिव्यक्ति ही नहीं पा सकता।

रेखा और गौरामें ईर्ष्या न होनेकी आलोचना हुई है। ऐसे भी हैं जो मानते हैं कि ईर्ष्याके विना प्रेम नहीं है, या ईर्ष्याके विना नारी नहीं है। ईर्ष्या-भरा प्रेम या ईर्ष्या-भरी नारियाँ मैंने न देखी हों, ऐसा नहीं है। निस्सन्देह अधिकतर ऐसा ही होता है। लेकिन जीवनका अनुभव अधि-संख्य या अधिमात्रका ही अनुभव नहीं है—जो परिपक्वताकी ओर ले जाय वही अनुभव है। मैं मानता हूँ कि ईर्ष्या प्रेमका सबसे बड़ा शत्रु है और प्रेमकी स्वस्थ वयस्कताके मार्गमें सबसे बड़ा रोड़ा। मैं नहीं मानता कि ईर्ष्यामुक्त प्रेम असम्भव है या अस्वस्थ है या अस्वाभाविक है। बल्कि यह मानता हूँ कि प्रेममें जिनको भी जितना अधिक ईर्ष्यासे मुक्त मैंने पाया है उनका उतना ही अधिक सम्मान कर सका हूँ—चाहे इस देश-कालमें, चाहे दूसरे देश-कालोंमें।

यों, यदि यह सूचना आपके किसी कामकी है तो—यह भी कहूँ कि बीसियों वर्षसे ईर्ष्याकी समस्यामें सैद्धान्तिक दिलचस्पी रही है। वैल्सके दो उपन्यास इसी प्रश्नको लेकर हैं जिनमेंसे एक मुझे विशेष प्रिय है;

ये दोनों ही कालेजके ज़मानेमें पढ़े थे, जब समाजको बदलनेका मेरा आग्रह तत्कालीन वैल्सके आग्रहसे कुछ कम नहीं था ! वैल्सके दिये हुए तर्क आज कुछ अतिसरलीकरण जान पड़ते हों वह दूसरी बात है, लेकिन मानवीय व्यक्तिके चरित्र-विकासके लिए ईर्ष्या-मुक्तिका जो सैद्धान्तिक प्रश्न उन्होंने उठाया था वह मुझे आज भी एक जीवित प्रश्न जान पड़ता है ।

'नदीके द्वीप'का समाज*

'नदीके द्वीप'के पात्रोंके विषयमें आपके प्रश्नका क्या उत्तर हो सकता है ? जो उपन्यास मूलतः चार-पाँच वैयक्तिक संवेदनाओंका अध्ययन है उसके पात्र 'समाजसे कटे हुए' है या नही, यह प्रश्न मेरे लिए तो प्रासगिक ही नहीं हुआ। एक पेड़की शाखा-प्रशाखाकी रचना देखनेके लिए क्या यह पहले निश्चय कर लेना अनिवार्य (या आवश्यक भी) है कि वह पेड जंगलसे कटा हुआ है या कि जंगलका अग है ? उपन्यास अनिवार्यतया पूरे समाजका चित्र हो, यह माँग बिलकुल ग़लत है। उपन्यासकी परिभाषाके बारेमें यह भ्रान्ति (जो देशमें या कमसे कम हिन्दीमें काफ़ी फैली हुई मालूम होती है) साहित्यके सामाजिक तत्त्वको ग़लत समझनेका परिणाम है। कह लीजिए कि छिछली या विकृत प्रगतिवादिताका परिणाम है।

'नदीके द्वीप'के पात्र किसी हद तक अवश्य असाधारण है। वैसे ही जैसे भारतमें पढ़ा-लिखा व्यक्ति किसी हद तक असाधारण अवश्य है, जहाँ साक्ष-रताका स्तर अट्ठारह प्रतिशत है, शिक्षितताका आधा प्रतिशत और सुशिक्षितिताका कितना ? ०.२ प्रतिशत ? समाजके जिस अगमेंसे **'नदीके द्वीप'**के पात्र आये हैं उसका वे ग़लत प्रतिनिधित्व नही करते। मेरे लिए उनकी इतनी सामाजिकता पर्याप्त है। इसके आगे उनमेसे प्रत्येक चरित्र एक सही सुनिर्मित विश्वास्य व्यक्ति-चरित्र हो और जीवन्त होकर सामने आ सके, यही मेरा उद्देश्य रहा और इतना मात्र मै कलात्मक उद्देश्य मानता हूँ। यों दूसरे भी उद्देश्य हो सकते हैं, यह अलग बात है।

'शेखर'से **'नदीके द्वीप'**का अधिक सम्बन्ध मुझे तो नहीं दीखता। पर

*** काशीके एक विद्यार्थीके प्रश्नके उत्तरमें लिखे गये पत्रका अंश।**

लेखककी बात पाठक क्यों मानने लगा, खासकर जब वह ऐसा समझता हो कि वह कुछ देख सकता है जो भले ही स्वयं लेखकको भी न दीखा हो।

इतना अवश्य है कि **'शेखर'**का तीसरा भाग मेरे सामने है और केवल मेरे सामने है, पाठकके सामने नहीं है। इसलिए यह असम्भव तो न होना चाहिए कि **'शेखर'**के पहले दो भागोंका तीसरे भागके साथ सम्बन्ध, और **'नदीके द्वीप'**से उन सबका अलगाव मैं पाठककी अपेक्षा अधिक अच्छी तरह देख सकूँ—अपने सभी पूर्वग्रहोंके बावजूद !

●

सन्दर्भ : आलोचना

प्रतिष्ठाओंका मूल स्रोत

हिन्दीमे आज आलोचनाकी जितनी अप्रतिष्ठा है, उतनी शायद कभी नही थी। आलोचनासे हमारा अभिप्राय साहित्यालोचन अथवा आलोचनाके सिद्धान्त नही, व्यावहारिक ग्रन्थ-समीक्षा है। ऐसा क्यों है ? इस प्रश्नपर विचार करने लगें तो साथ ही ध्यान होता है कि केवल समीक्षाकी नहीं, समीक्षाके माध्यम या आधार, हमारे पत्र और पत्रिकाओंकी भी उतनी ही अप्रतिष्ठा है। और कुछ और पीछे जाकर देखें, तो यह भी लक्ष्य होता है कि हिन्दी पत्रकारिताके आरम्भके युगमें हमारे पत्रकारोंकी जो प्रतिष्ठा थी, वह आज नहीं है। साधारण रूपसे तो यह बात कही जा ही सकती है, अपवाद खोजने चलें तो भी यही पावेंगे कि आजका एक भी पत्रकार या सम्पादक वह सम्मान नहीं पाता जो कि पचास-पचहत्तर वर्ष पहलेके अधिकतर पत्रकारोंको प्राप्त था। जो पाठक ये पंक्तियाँ पढ़ेगा वह शायद सम्पादक नही होगा इसलिए स्वयं उसे ललकारना तो व्यर्थ होगा : उसे इतना ही कहना होगा कि आजके सम्पादक-पत्रकार अगर इस अन्तरपर विचार करें तो स्वीकार करनेको बाध्य होंगे कि वे न केवल कम सम्मान पाते है बल्कि कम सम्मानके पात्र है—या कदाचित् सम्मानके पात्र बिलकुल नही है, जो पाते है वह पात्रतासे नही, इतर कारणोसे।

इस परिस्थितिकी चर्चा सम्पादकोंके सम्मुख ही करनी चाहिए, या कि साधारण पाठकके लिए भी उसका कुछ उपयोग है ? मै तो समझता हूँ कि साधारण पाठकके सामने इस प्रश्नको उठानेका पर्याप्त कारण है। क्योंकि यह केवल विशेषाधिकार-प्राप्त पत्रकार-बिरादरीका प्रश्न नही, हिन्दी-भाषी मात्रके लिए एक प्रश्न है, और—कम-से-कम काग़ज़ी प्रस्तावके

आधारपर !—यह मान लिया गया है कि कुछ वर्षोंकी निर्दिष्ट अवधिके भीतर सभी भारतवासी हिन्दी-भाषी हो गये होंगे ।

बहुत दूरतक इस अप्रतिष्ठाकी जड़ें व्यावसायिकताके प्रसारमें है । वे दिन लद गये जब पत्र निकालना साधना थी और साहित्यिक पत्र निकालना तो पूरी कृच्छ्र-तपस्या । आजका पत्रकार पेशेवर आदमी है, उसका दिमाग़ ट्रेड-यूनियनकी लीकपर चलता है (क्योंकि मालिकका दिमाग़ पूँजीवादी पटरीपर जमा है) पुराना सम्पादक ही मालिक होता था क्योंकि वह मिल्कियत नहीं, मुसीबत थी; आज बहुधा मालिक ही सम्पादक होता है क्योंकि अधिकार उसे चाहिए, काम करने वाले पेशेवर पत्रकार तो बहुत मिल जावेंगे जो उसके आदेशसे काम करेंगे !

जिस प्रकार सम्पादककी अप्रतिष्ठा व्यावसायिकतामें निहित है, उसी प्रकार समीक्षाकी भी । क्योंकि प्रकाशन भी एक व्यवसाय है, और बिक्रीके लिए विज्ञापन चाहिए, और समीक्षा विज्ञापनका एक रूप है—या बनाया जा सकता है★, इस लिए प्रकाशक और पत्रों और पत्रकारोंका ताल-मेल एक व्यावसायिक आवश्यकता है। और फिर आलोचक भी पेशेवर आलोचक है–क्योंकि या तो वह लेखक है और इसलिए प्रकाशकके हितके साथ उसके हित बँधे हैं, या वह पत्रकार ही है और सीधे ओखलीमें सिर दिये बैठा है ।

★कितने प्रकाशक अब स्वय अपनी 'समीक्षा-पत्रिकाएँ' निकालने लगे हैं । अपना प्रकाशन, अपनी पत्रिका, अपने 'समीक्षक' जो बहुधा प्रकाशकके अपने प्रकाशित, प्रकाश्य, या प्रकाशनाकांक्षी लेखक होते हैं—कैसी सांगोपांग व्यवस्था है ! पंजाबीमें कहावत है :

आप्पेई मैं रज्जी-पुज्जी,
आप्पेई मेरे बच्चे ज्यूण ।

—स्वयं मैंने पेट-भर भोजन पाया, स्वयं अपनेको पूजा-दक्षिणा दी, स्वयं अपनेको आशीर्वाद दिया कि मेरे बच्चे जियें !

या वह स्कूल-कालेज-युनिवर्सिटीमे पढ़ाता है, और आलोचना लिखेगा तो पाठ्य-क्रममे आनेके लिए उसे अमुक होना होगा या नहीं होना होगा—और आलोचकके लिए पाठ्य-पुस्तकका आकर्षण वह फिसलन है कि बस, एक बार गिरे और गये—कर्दम-वासी जीवसे मानव तकके सारे जैविक विकास पर पानी फिर गया। शिक्षण भी तो आज व्यवसाय है, और युनिवर्सिटीके वाइस-चांसलरके अपनेको 'कुल-पति' कह लेनेसे स्थिति बदल थोड़े ही जाती है!

लेकिन यहाँ तक पहुँच कर इस बातको ले उड़ना भूल होगी कि व्यावसायिकता या पूँजी ही सब दोषोंकी जड़ है; और हम निर्दोष हैं और कुछ नहीं कर सकते। पूँजीके शासनका समर्थन हमे अभीष्ट नहीं है, लेकिन उससे उबरनेके लिए नारेबाज़ी काफ़ी नहीं है। 'अमुक दुष्ट है क्योंकि उसने हमें बाँध लिया'— यह नतीजा कुछ मदद नहीं कर सकता जब तक कि हम यह भी न सोचें कि 'हममे क्या दुर्बलता थी कि हम बँध गये?'

क्या केवल यही कि हमने नारे नहीं लगाये, या कि काफ़ी जोरसे नही लगाये? जी नहीं। नारे तो हमने लगाये, लेकिन यह सोचनेके लिए कभी नहीं रुके कि क्या उनमे कुछ सत्य भी कभी था? या अगर कभी था, तो आज भी है या कि दम तोड़ चुका; और हमारे चिल्लानेमे ही उसकी उलटी साँसें डूब गयीं?

जो लोग पूँजीके शासनसे बचनेके लिए यथेष्ट सतर्क थे, आलोचनाकी मर्यादाओंकी उन्होंने कम उपेक्षा नहीं की। बल्कि शायद उन्होंने उसकी मट्टीको अधिक पलीदा, क्योंकि उन्होंने समीक्षाको राजनीतिका साधन बनाया, और उस राजनीतिका जिसमें शाश्वतकी खिल्ली उड़ाकर तात्का-लिक सुविधाको ही शाश्वत सिद्धान्त बना डाला गया था। शाश्वत कुछ नहीं है, आलोचनाके सिद्धान्त समाजको प्रतिबिम्बित करते हैं और इस लिए समाजके साथ बदलते हैं, इस प्रतिपाद्यसे आरम्भ करके समीक्षाको विशुद्ध अवसरवादिताके हाथों बेच दिया गया। साहित्यके मान—कोई भी

मान, नैतिक मान भी—समाजके, देश-कालके, समकालीन सांस्कृतिक विकासके प्रतिबिम्ब है; और क्योंकि विकास एक अवस्थिति नहीं, एक अनवरत गतियुक्त क्रिया है, इसलिए ये मानव भी बदलते हैं और उनपर आधारित हमारे निष्कर्ष और निर्णय भी कालान्तरके साथ संशोधनीय हो जाते है, यह कहना एक बात है। लेकिन रोज़-रोज़के सन्धि-विग्रहोंसे देश-काल, समाज, सस्कृति उसीके अनुरूप रोज़-रोज़ नही बदल जाते। राजनीतिक सुविधाके आधार रोज़ बदल सकते हैं पर नैतिक-सांस्कृतिक मान गिरगिटकी चमड़ीके रंग नहीं है। जैविक विकाससे उदाहरण लीजिए : बन्दर या उसके किसी जाति-भाईसे मानवका विकास हुआ, दोनों अलग हैं और दोनोंका अपना-अपना स्थान है जिसपर आप चाहे तो ऊँच-नीचकी भावना भी रोप सकते हैं, पर विकास-गतिके नामपर आजके बन्दरको कल मानव और परसों फिर बन्दर नहीं सिद्ध किया जा सकता। इसे ऐतिहासिक दृष्टि नहीं कहते, और इसपर आधारित आलोचना-शास्त्र (—क्योंकि आप मानिए न मानिए, ठीक वैसा ही विधान भी है जिसे देखकर लोग दिन-दिन तय कर लेते है कि आज कौन ठीक और कौन बेठीक लिख रहा है !—) वैज्ञानिक, शास्त्रीय, ऐतिहासिक, भौतिक, कुछ नहीं हो सकता; वह या तो शुद्ध धोखा हो सकता है, या—अगर उसके प्रचारक स्वयं उसपर विश्वास कर रहे है तो—कोरी आत्म-प्रवंचना। बकरे को आप काम-धेनु कहिए, कह सकते हैं; और काफ़ी चिल्लाकर और दुराग्रहसे कहेंगे तो सामनेवाला कोई भी भला आदमी चुप हो जायगा कि कहने दो; पर इतने पर ही गलस्तनसे दूध नहीं दुह लिया जा सकेगा, किसी दूसरे इष्टकी तो बात ही क्या !

असलमे समस्या यही है कि हमारे पास आज किसी चीज़को मापनेके लिए मापदण्ड नहीं है। पुराने माप कुछ तो पुराने थे ही, घिस-घिसा गये थे और नया शोध माँगते थे, कुछको हमने अवज्ञा और कुशिक्षा और शक्ति-लालसा और परमुखापेक्षिता और दास-वृत्ति नहीं तो अनुकरण-

वृत्तिके कारण स्वयं नष्ट कर दिया। यह बात केवल साहित्यपर नहीं लगती, हमारे सारे सांस्कृतिक-सामाजिक जीवनपर लगती है। हमारे पास कोई नीति नही है, क्योंकि नीतिके कोई आधार नहीं है। प्रत्युत्पन्न-मतित्वको हमने नैतिक क्षेत्रमें ला बिठाया; बिठाया ही नहीं, सिंहासन दिया; और अब वह चरम सीमापर पहुँचकर हमे अवसर-नीतिसे चला रहा है, और हम हक्के बक्के देख रहे है कि यह क्या हुआ! क्या हमारे पास नीति है? शास्त्र है? क्या हमारे पास सस्कृति भी है? और इस घबराहटमे एक प्रतिक्रियावादी दौड़ता है पीछेको कम-से-कम मौर्यो-गुप्तोंके साम्राज्य तक, तो दूसरा प्रतिक्रियावादी दौडता है रूसी साम्राज्यकी ओर! अगर हमारे पास आज कोई संस्कृति नहीं है, टूटी-फूटी, भ्रष्ट-ध्वस्त, पगु-दुर्बल, चाहे कैसी भी वह हो, अगर हम उसीको अपने प्राणोंके बलसे नहीं जीवन्त और गतिवान् कर सकते—तो क्या इन दूरके साम्राज्योंसे हम सस्कृति लाकर यहाँ बिठा सकेंगे?—एक साम्राज्य जो कालके आयाममे दूर है, और दूसरा जो देशके आयाममे उतना ही दूर है! जिस देशमे हर कार्यके साथ शान्ति-पाठकी परम्परा थी, और आज भी ऐसे लोग कम नहीं है जो शान्तिकी भावनाको सहज ही आत्मसात् कर लेते है, उस देशमे नेतृत्वका दम भरने वाला एक व्यक्ति पूछे कि शान्ति किस चिड़ियाका नाम है, और नये मियाँ ख़लील एक इस्पाती फ़ाख़्ता आपके सामने लाकर खड़ी कर दें कि इस चिड़ियाका—हम ज़रा यह फ़ाख़्ता उड़ाते हैं और शान्तिके इस प्रतीकके लिए आप लड़ मरिये!

विषयान्तर हो गया है, लेकिन बहुत नहीं, और सर्वथा अप्रासंगिक भी नहीं। फिर भी, 'शान्त पाप' कहकर अपने विषयपर लौट आवें।

तो, पत्रकार, सम्पादक, आलोचककी अप्रतिष्ठाका प्रमुख कारण यह है कि उसके पास मानदण्ड नहीं है। यहीं हरिश्चन्द्र-कालीन सम्पादक-पत्रकार

—या उतनी दूर न जावें तो महावीरप्रसाद द्विवेदीका समकालीन भी—हमसे अच्छा था। उसके पास मानदण्ड थे, नैतिक आधार थे और स्पष्ट नैतिक उद्देश्य भी। उनमेंसे अगर कोई ऐसे भी थे जिनके विचारोंको हम दकियानूसी कहते, तो भी उनका मम्मान करनेको हम बाध्य होते थे क्योंकि स्पष्ट नैतिक आधार पाकर वे उनपर अमल भी करते थे—वे चरित्रवान् थे। आज—विचार-क्षेत्रमें हम अग्रगामी भी कहला लें, तो कर्मके नैतिक आधारोंकी अनुपस्थितिमे निजी रूपसे हम चरित्रहीन ही हैं और सम्मानके पात्र नहीं है····

इस सारे मसलेको साधारण लेकिन समझदार हिन्दी पाठकके सामने रखनेका यही कारण है। वास्तवमे परिस्थिति उतनी असाध्य नहीं है। क्योंकि ऐसा नहीं है कि संस्कृतिके नामपर आज हमारे पास कुछ नहीं है और हमें कहीं न कहींसे कलम लाकर इस बञ्जरमें लगानी है—और बंझर है इसलिए खाद, पानी और यहाँ तक कि हवा भी कहीं दूरसे लाकर यहाँ जमानी है कि वह चालानी पौधा पनप सके। हमारे पास बहुत कुछ है जो आशाका आधार है, बल्कि हमारे पास जो कुछ है वही तो आशाका आधार है, और उसीमेंसे हमे नया आलोक, नयी गर्मी, नयी गति पानी है। और इसके लिए आवश्यक है कि हम जिस तरह अपने शरीर, अपने श्रम, अपने कार्यको आर्थिक दासतासे बचाने या उबारनेके लिए सतर्क रहते हैं, उसी तरह अपने मन, अपने चिन्तन, अपनी बुद्धि-को वैचारिक दासतासे बचाने और उबारनेके लिए भी सतर्क और सन्नद्ध रहे। भारतमें बौद्धिक-सांस्कृतिक स्वाधोनताकी परम्परा रही, पर आज वह स्वाधीनता आक्रान्त है; और निरी परम्पराके सहारे बैठ रहनेसे काम नहीं चलेगा क्योंकि वह परम्परा और भी आक्रान्त है, और जो स्वयं आक्रान्ता नही हैं उनमेसे भो बहुतोंसे अवहेलना और उपेक्षा पाती है। सांस्कृतिक आदान-प्रदानपर हमे रोक नहीं लगानी है; वैसा आदान-प्रदान किस संस्कृतिमें नहीं हुआ और विना उसके कौन सस्कृति बच सकी ?

भारतकी संस्कृति तो है ही समन्वित सस्कृति : पहले आयात या कहीं-कहीं आरोप, फिर मिश्रण, फिर बाह्य प्रभावको आत्मसात् करके उसीसे अन्त:प्रेरणाकी प्राप्ति, फिर उसीका प्रतिभा-प्रसूत नया प्रस्फुटन--बाहरके दायसे संकृतियोंका सवर्द्धन बराबर इस तरह होता रहा है, और हमारी सभी कलाएँ ही क्यों, धर्म, आचार, दर्शन सभी--इसी प्रकार सर्बद्धित और परिवर्तित होते रहे है । लेकिन सस्कृतिके विकासके लिए मानसिक स्वातन्त्र्य अनिवार्य है : अलग सोचनेकी, भिन्न प्रकारसे सोचनेकी, प्रयोग करने, भूल करके शिक्षा पाने, लीक छोड़कर भटकने, शोध करने, असहमत होने, अपने क्षेत्रको प्रसृत या संकुचित करने, गहराई या ऊँचाई देने, बोलने और न बोलनेकी स्वाधीनताके विना सांस्कृतिक विकास नही है । आज जो आसन्न युद्ध-सकटके नामपर कहा जाता है कि पहले शान्ति चाहिए, पीछे स्वतन्त्रता देखी जायगी, वह स्थितिको विकृत रूपमे दिखाना है । शान्ति बनाम स्वतन्त्रताका धर्म-सकट महाभारतकी भी मूल समस्या थी, और धर्मराज कहलाने वाले युधिष्ठिरने स्वतन्त्रतासे ऊपर शान्तिको नहीं रखा था । इस द्वन्द्वको कवि 'दिनकर'ने एक नया अभिप्राय देकर अपने काव्य 'कुरुक्षेत्र'मे उपस्थित किया है । युधिष्ठिरने स्वतन्त्रताको तरजीह दी थी, इसीलिए हम भी दें, ऐसी लचर दलीलकी कोई ज़रूरत नहीं है । स्वतन्त्रता सहज ही शान्तिसे अधिक मौलिक आवश्यकता है, क्योंकि शान्तिके नामपर स्वतन्त्रताकी बलि देनेसे स्वतन्त्रता तो जाती ही है, शान्ति भी हाथ नहीं आती । नारोंकी ही बात करनी हो तो, 'पहले स्वतन्त्रता' बुरा नारा नही है : वह स्वय भी प्राणवान् है और प्राण फूँकने की भी क्षमता रखता है ।

कलाके क्षेत्रमे भी स्वतन्त्रताकी प्राथमिकता अपना विशेष अर्थ रखती है । मनुष्यका विवेक ही उसकी स्वतन्त्रताका आधार है, और स्वतन्त्रता को प्रथम मूल्य मानना वास्तवमे साहित्यालोचनको नि:संग विवेकपर

आधारित करना ही है। इस प्राथमिक मानकी रक्षा, जिससे और सब मान उद्भूत होते हैं, और सब मर्यादाएँ और प्रतिष्ठाएँ जन्म लेती हैं, हम सब का उत्तरदायित्व है।

आलोचना, साहित्य, हिन्दी—ये सब कोई भी आकाशपर नहीं टिके हैं; संस्कृतिके ये अंग सांस्कृतिक स्वाधीनताके सहारे ही जी सकते हैं।

●

भारतीयता

भारतकी आत्मा सनातन है, भारतीयता केवल एक भौगोलिक परि-वृतिकी छाप नहीं, एक विशिष्ट आध्यात्मिक गुण है, जो भारतीयको सारे संसारसे पृथक् करता है । भारतीयता मानवीयताका निचोड़ है, उसकी हृदयमणि है, उसका शिरसावतंस है, उसके नाकका बेसर है....

आप कहते चले जाइये, सौ श्रोताओंमेंसे एकको—नहीं, आपको हज़ार श्रोता मिलें तो हज़ारमेंसे एकको—छोड़कर बाक़ी सब आपके शब्द गट-गट पी जायेंगे; एक हल्की-सी तन्द्रा, एक मुखालस पिनक-सी उनपर छा जावेगी; कितना अच्छा है यह सुनना कि भारतीयता मानवीयताके नाकका बेसर है, क्योंकि निस्सन्देह भारतीयताके नाकका बेसर मैं स्वयं हूँ....

तब वह जो सौमें एक—या हजारमें एक—है, उसे पकड़ लीजिए ! उसे इंगित करके बाक़ी सभासे कहिए; 'देखिए, यह आदमी शाश्वत भारतीयताको नहीं जानता-मानता ! अपनी संस्कृतिसे, मानवीयताके श्रेष्ठ दायसे, यह अपरिचित है, भारतकी सनातन आत्मासे इसने अपनेको तोड़ लिया है....' सब लोग उसकी ओर दया-भरी दृष्टिसे देखने लगेंगे—अरे, विचारा, अभागा, अज्ञान-मोहान्धकार-ग्रस्त कहींका ! और कुछ कदा-चित् अवहेलना और हिकारतकी दृष्टिसे उसे देखकर मुँह फेर लेंगे—कम्बख्त परम्परा-द्वेषी, परमुखापेक्षी; सदियोंकी गुलामीसे इसकी आत्मा गुलाम हो गयी है !

ठीक इस मौक़ेपर आप मुड़कर उन नौ सौ निन्नानबे श्रद्धालु आत्म-रत श्रोताओंसे वह प्रश्न पूछें बैठें जो उन्हें पहले ही आपसे पूछना चाहिए था—कि भारतीयता आख़िर है क्या ? भारतकी आत्माका वैशिष्ट्य किसमें है ? तो वे अचकचा जावेंगे। फिर खिसियानी-सी हँसी हँस देंगे । हें-हे, यह

भी भला कोई पूछनेकी बात है, आप तो मज़ाक करते है, भारतकी आत्मा माने—हाँ-हाँ, सदियोंसे सब जानते हैं, भारतकी आत्मा माने—भारतकी आत्मा ! हाँ-हाँ, वही तो ।

हाँ, हाँ, वही तो ! सदियोंसे सब जानते हैं तभी अब पूछनेकी कोई ज़रूरत नहीं है । लेकिन किसी भी सांस्कृतिक परम्परासे, किसी भी जाति-की व्यक्तिगत और समूहगत रचनात्मक प्रवृत्तियोंके समन्वयसे उत्पन्न गतिसे लाभ उठानेके लिए, उसे नया जीवन देनेके लिए, उससे अनुप्राणित होकर आगे बढ़नेके लिए, आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति यह प्रश्न पूछे, उसका उत्तर अपनेमे पावे, उससे जो भी गत्यात्मक प्रेरणा मिल सकती हो उसे आत्मसात् करे । क्योंकि ऐतिहासिक परम्परा कोई पोटली बाँधकर रखा हुआ पाथेय नही है जिसे उठाकर हम चल निकले । वह रस है जिसे हम बूँद-बूँद अपनेमे सचय करते है—या नहीं करते, कोरे रह जाते है ।

और प्रश्न पूछनेकी आवश्यकताका सबसे बड़ा प्रमाण तो वह स्वीका-रात्मक औदासीन्य ही है जो इस प्रश्नपर हमे मिलता है । उसे लक्ष्य करते हुए समकालीन भारतीय मानसकी पड़ताल करें—और यहाँ भारतीय मानससे अभिप्राय केवल उसके इने-गिने मेधावियोंका मानस नहीं, लोक-मानस है, प्राकृत जनका भी मानस है—तो हम कह सकते है कि भारती-यताका पहला लक्षण या गुण है सनातनकी भावना, कालकी भावना, कालके आदि-हीन अन्त-हीन प्रवाहकी भावना—और काल केवल वैज्ञानिक दृष्टिसे क्षणोंकी सरणी नहीं, काल हमसे, भारतीय जातिसे, सम्बद्ध विशिष्ट और निजी क्षणोंकी सरणीके रूपमें । इसके प्रभावोंकी पड़ताल की जाय, इससे पहले इसकी पृष्ठ-भूमिपर एक दृष्टि और दौड़ा ली जाय । कलियुग कितने वर्षोंका होगा, यह शास्त्र बताते हैं । इसी प्रकार द्वापर, त्रेता और सत्युगोंके काल हैं । यों तो इतना ही मानव काल-कल्पनाकी शक्तिसे परे चला जाता है । लेकिन आगे जब हम जानते हैं कि यह ब्रह्माका केवल एक पल है, और फिर हिसाब लगाते है कि ब्रह्माका दिवस और वर्ष कैसा

होगा—तब हम यथार्थताके क्षेत्रसे बिलकुल परे चले जाते है। ऋषि-मुनि साठ हज़ार बरस तक तपस्या कर लेते थे। आज साठ वर्षको मानवीय आयुकी औसत मानकर उससे हज़ार-गुनी अवधिकी कल्पना, खैर, की भी जा सकती है, लेकिन देवताओंकी आयु-गणना करने जाते ही फिर यथार्थताका आँचल छूट जाता है। इस प्रकार सनातनके बोध तक पहुँचते-पहुँचते हम कालकी यथार्थताका बोध खो देते है। सनातनकी भावना लम्बी काल-परम्पराकी भावना नहीं, कालकी अयथार्थताकी भावना है।

यों तो पश्चिमकी युवा सस्कृतियोमे पले हुए लोग प्रायः पूर्वकी प्राचीन सस्कृतियोंकी चर्चा करते हुए 'सस्कृतिके भार' की चर्चा किया करते है—बहुत लम्बी सास्कृतिक परम्पराका एक बोझ उस परम्परामें रहनेवालोंपर हो जाता है, जिससे वह समकालीन प्रत्येक प्रवृत्ति या घटनाको सुदूर अतीतकी कसौटीपर परखने लगते है; सामने न देखकर पीछे देखते है और एक प्रकारके नियतिवादी हो जाते है। भारतके बारेमे—और इसी प्रकार मिस्र आदिके बारेमे—पाश्चात्य अध्येताओंने ऐसे विचार प्रकट किये है। लेकिन अगर कुछ सहस्र वर्षोकी सांस्कृतिक परम्पराका ही इतना बोझ हो सकता है, तो कल्पना कीजिए उस बोझका, जो ब्रह्माके एक युगकी उद्भावना करनेसे पड़ता होगा! यद्यपि यह हम कह चुके कि ब्रह्माका युग हमारी उद्भावनाकी पकड़से बाहरकी चीज है—वह काल्पनिक यथार्थता भी नहीं हो सकती।

'भारतीयता' का दूसरा विशिष्ट गुण है स्वीकारकी भावना। किसी हद तक यह पहली विशेषताका परिणाम ही है। हिन्दू देवताओंको छोड़कर किसीके दिन और वर्ष इतने लम्बे नहीं होते। यों अमर तो सभी देवता होते हैं, लेकिन दूसरोंके देवताओंके दिन-रात साधारण मानवीय दिन-रात ही होते हैं, और उनकी जीवन-चर्याकी कल्पना हमे अपने यथार्थ कालसे परे नहीं ले जाती। लेकिन भारतके देवताओंके जीवनकी कल्पना ऐहिक कालकी

भावनाको मिटाकर ही की जाती है। और जब हमारा काल ही यथार्थ नहीं रहता, तब उस कालमें होनेवाले व्यापार भी अयथार्थ हो जाते है। हमारे यथार्थ दुःख-क्लेश, हमारी यथार्थ आशा-आकांक्षा, मानवके उद्योग-परिश्रम—मानवी व्यापार-मात्र अयथार्थ हो जाते है। और यथार्थतासे इस स्खलनका प्रभाव मानवी सम्बन्धोंपर भी पड़ता है: हमारे लिए हमारे पड़ोसी भी यथार्थ नहीं रहते, बल्कि किसी हद तक हम स्वय ही अपने लिए यथार्थ नहीं रहते—क्योंकि जिस ब्रह्माके एक निमिष-पातमे हमारे कल्पान्त विलीन हो जाते हैं, उसके सामने क्या है हमारा क्षुद्र जीवन—हमारी अपेक्षामे एक रोग-कीटाणुका जीवन जितना नगण्य है, उससे भी तो अधिक नगण्य हम हो जाते है। और फिर ब्रह्माके 'निमिष-पात' की हम जब कल्पना करते है, तो ब्रह्माकी मानवाकार ही कल्पना करते है—अर्थात् एक कल्पित—या कल्पनातीत—अतिमानव ब्रह्माके सामने यथार्थ ऐहिक मानव न-कुछके बराबर है। अपनी इस नगण्यतासे ही स्वीकारकी भावना उत्पन्न होती है—दुःखके प्रति स्वीकार, दैन्यके प्रति स्वीकार, अत्याचारके प्रति स्वीकार, उत्पीडनके प्रति स्वीकार—यहाँ तक कि दासताके प्रति स्वीकार, वह दासता दैहिक हो या मानसिक।

इस प्रकार हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि 'भारतीयता'के मूल में जो भावना या भावनाएँ है, उनसे हमे मानवीय अस्तित्वकी नगण्यता और जीवनके प्रति अवज्ञाका पाठ मिलता है। यह परिणाम चौकानेवाला है। लेकिन स्वीकारी सहज चौकता भी तो नहीं। और न चौकनेके लिए उसके पास और भी सहारे है—इस अस्तित्वसे परे परलोकके किसी चमकीले अस्तित्वका, और जीवनके प्रति अवज्ञाके उत्तरमें जीव-दयाके भारतीय आदर्शका। लेकिन जिस तरह चिरन्तन कालकी भावनाने हमारे यथार्थ कालके बोधको मिटाया है, उसी प्रकार व्यापक जीव-दयाने जीवित-व्यष्टिके प्रति करुणाको भी मिटा दिया है, जीवदयावादी जीव-मात्रके प्रति

दया रखता हुआ किसी भी जीव—मानव या मानवेतर—का कष्ट मज़ेमें देखता चलता है !

मैं परम्परा-द्रोही नहीं हूँ, न भारत-द्वेषी ही हूँ। न ही मै निराशा-वादी हूँ। और तात्कालिक लाभ या उपयोगिता या सफलताके नामपर नैतिक मूल्योंकी उपेक्षा मुझे कभी अभीष्ट नही रही—मेरा आग्रह सदैव अवसरवादके विरुद्ध और नैतिक मूल्यकी रक्षाका रहा है। मुझे यही कहना है कि भारतीयताका जो रूप हमारी तत्सम्बन्धी सहज स्वीकृति—हमारे सनातन स्वीकार !—में लक्षित होता है, उसकी मूल भावनाएँ स्वय जड है और जाड्य उत्पन्न करने वाली है, और उससे परिव्याप्त संस्कृति (मै 'अनुप्राणित' कहने लगा था, पर अनुप्राणित तो तब हो जब प्राण हों, जडतासे तो विजडित ही होगी !) गतिहीन, स्थितिशील और अगतिवादी या प्रगतिवादी ही होगी।

इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि भारतीय संस्कृति अग्राह्य है, या कि भारतीय परम्परा त्याज्य है। परिणाम एक तो यह निकलता है कि उसके सम्बन्धमे हमारी धारणाएँ भ्रान्त है और त्याज्य है। दूसरे यह भी परिणाम निकलता है कि जिसे हम भारतकी आत्मा कहते हैं, वह वास्तवमे आत्मा और अनात्मका, जीवित और जडका एक पुंज है, जिसकी परीक्षाकी आवश्यकता है, परीक्षा करके जडको अलग रख देना होगा—चाहे पुरातत्त्व संग्रहालयमें ही—और जीवितको आगे बढाना होगा। और आगे तीसरा परिणाम यह भी निकलता है कि आज बहुधा भारतीय सस्कृतिके जड तत्त्वोंको ही भारतीयता माना जाता है। कुछ लोग भारतीयताके समर्थनके नामपर निरी जडताका समर्थन करते है; कुछ दूसरे जडताके विरोधके नामपर सस्कृतिसे ही इनकार करना चाहते है।

हमें चाहिए वह बेलाग, सचेत, स्वाधीन जिज्ञासा जो परिवृतिमें घिरी हुई भी आगे देखे। जो अपने देशमें रहकर भी आगे देखे; आगे दूसरे

देशोंको नहीं, हमसे आरम्भ होनेवाली आगेकी दिशाको, आगेको। जो अपने कालमें रहकर भी आगे देखे; न इधर अनादिको, न उधर अनन्तको, वरन् हमसे आगेके उस कालको जो हमारे कालसे प्रसूत है और जिसके हम स्रष्टा हैं। वह अपरिबद्ध जिज्ञासा भारतीयता है कि नहीं, इसपर विद्वान् लोग बहस कर सकते हैं; मैं असन्दिग्ध भावसे इतना जानता हूँ और कहना चाहता हूँ कि वह भारतीयताको कल्याणकर बना सकती है।

●

नये लेखककी समस्याएँ

नये साहित्यमें नये लेखक और पाठक दोनोंको रुचि होना स्वाभाविक है। पर आज जब हम नये साहित्यकी बात करते है, क्यों सचमुच नया साहित्य ही हमारे ध्यानमे होता है—वह साहित्य जो आज इस समय लिखा जा रहा है, या कल लिखा जावेगा ? या कि आज नये साहित्यकी चर्चा करते समय भी हमारी दृष्टि वास्तवमे आजसे बीस-पचीस वर्ष पहलेके साहित्यपर ही जमी होती है ? (हमारी यानी समकालीन साहित्यमें रुचि रखनेवालेकी, उन प्राध्यापकोंकी नही जो भारतेन्दुसे इधर देख ही नही सकते !)

नये साहित्य, नये साहित्यकारकी समस्याओंपर विचार करनेके लिए सबसे पहले इसी स्थितिका सामना हमें करना चाहिए। क्योंकि अगर हमारे सामने नया साहित्यकार ही यथार्थ नहीं है तो उसकी समस्याएँ कैसे यथार्थ हो सकती हैं ?

आजके हिन्दी साहित्य-क्षितिजकी तुलना सन् पैंतीसके क्षितिजसे करें तो यह बात स्पष्ट हो जावेगी। 'प्रसाद', मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द, सुदर्शन—ये उस समयके बुजुर्ग थे; 'निराला', सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी—ये उभर कर सामने आ गये थे और इनके कृतित्वमे हिन्दीकी उज्ज्वल सम्भावनाएँ स्पष्ट दीख रही थी। और इनके पीछे—बिना किसी अन्तरालके—अनेक समर्थ और प्रतिभाशाली नये लेखक आ रहे थे : जैनेन्द्रकुमार, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, 'बच्चन', 'दिनकर'—और भी अनेक नाम गिनाये जा सकते हैं, पर यहाँपर गणना हमारा उद्देश्य नहीं है। कहनेका अभिप्राय यह कि साहित्यिक जीवनका प्रत्येक स्तर गतियुक्त था, ऊपरसे नीचे तक एक अटूट प्रवहमानता लक्षित होती थी; साहित्यकार आशा और उत्साह

से आगे बढ़ रहा था, और नये तथा पुराने साहित्यकारके बीच सम्पर्क और सहानुभूतिका एक सूत्र भी था। और आज? उस दिनके उठते हुए साहित्यकार आजके प्रतिष्ठित लेखक हैं: पर उनके आगे? सन् १९३५ में बुजुर्गोंके बाद हम जिनके नाम लेते थे आज भी उन्हींके नाम लेते हैं यद्यपि बादवाले भी बुजुर्ग हो गये हैं: और उनके आगे जब नये नामोंकी बात होती है तो चुप रह जाते है, या अचकचाकर एक दूसरे-की ओर देखते है, या कोई युवतर लेखकोंके नाम लेनेका उपक्रम करता है तो मुँह बिचका देते हैं....

तो क्या हिन्दी साहित्य ख़त्म हो गया? क्या उसकी सम्भावनाएँ चुक गयी? क्या निराशाके सिवा हमारे पास देनेको और नयी पीढ़ीके लिए पानेको और कुछ नही रहा? या कि साहित्यमें नयी पीढ़ी ही अब नहीं होगी?

लेकिन तब और अबकी तुलनाको कुछ और आगे बढावें। कदाचित् उसीमेंसे इस विषम स्थितिके कारण हमे मिल सकें, और उसके सुधारके लिए कुछ प्रकाश।

सन् तीस-पैंतीसका युवक अपने बुजुर्गोकी पीढ़ीसे ईर्ष्या नही करता था: ईर्ष्याकी उसे ज़रूरत नही थी। उसके मनमे यह बोध स्पन्दित होता रहता था कि आगे शीघ्र ही कुछ बहुत बड़ा होनेवाला है, जिसमे वह भाग लेगा; उसका जीवन बराबर आशा और अनागतके आह्वानसे भरा था। लेकिन आजका युवक जानता है कि पीछे कुछ ही पहले बड़ी-बड़ी बातें हो चुकी हैं: और जब वह अपनो पूर्ववर्त्ती पीढीकी ओर देखता है तो कुछ इस भावसे कि उन महान् घटनाओंमे इन लोगोंने भाग लिया था। इससे वह यह भी अनुभव करता है कि वह उन घटनाओंसे अलग है, उच्छिन्न है, और पिछली पीढ़ीके प्रति एक ईर्ष्या भी उसमे भर जाती है। 'वैसी घटनाएँ अब फिर नहीं होंगी'—बहादुरशाह और सन् सत्तावनके बादसे इस शतीके दूसरे-तीसरे दशक तक उर्दूपर

जैसा प्रत्यवलोकी नशा छाया रहा था, जिसका मुख्य लक्षण था गिरती बादशाही और नवाबीके दिनोंका स्मरण करके स्वयं अपनेपर अपनी करुणाको चुका देना, उसे ध्यानमें रखें तो आजके युवा लेखकका उच्छिन्न भाव समझमे आ सकता है। कुछ तो जिन घटनाओंकी बात वह सोचता है वे इतनी विराट् और अद्वितीय रहीं कि उसका यह मान लेना स्वाभाविक है कि वे दुबारा न होंगी और इसलिए वह वंचित ही रह गया, पर उच्छिन्न अनुभव करनेका एक दूसरा कारण भी है। वह है पिछली पीढ़ी और इस पीढ़ीके व्यक्तिके अपने समाजसे सम्बन्धमे परिवर्त्तन। सम्पन्न होना आवश्यक नहीं है, न वर्ग-स्वार्थोंसे आत्मसात् होना ही आवश्यक है; लेकिन अभिजात साहित्यकारोमे एक सहज आत्म-विश्वास और आत्म-गौरवकी भावना होती थी जो उनके लेखनमे भी अभिव्यक्त होती थी और उसे एक शालीनता देती थी। उदाहरणतया जवाहरलाल नेहरूके लेखनमे वह शालीनता रही; जब वह विद्रोह और विप्लवकी बात कहते थे तब भी उसके मूलमे यह भावना रहती थी कि वह स्वयं उच्छिन्न नहीं है, कि समाजमे उनकी गहरी जड़ें हैं और समाजके गठनमे, उसके स्थायित्वमें, उनका स्थान है। अभिजात साहित्यकार शासन-प्रिय न हो, व्यवस्था-विरोधी भी भले ही हो, अधिकारके लम्बे अभ्यासका वातावरण उसे एक गुरुता और आत्म-विश्वास देता था। यही बात एक दूसरे रूपमे और दूसरे स्तरपर मैथिलीशरण गुप्तमें देखी जा सकती है। वह भी समाजसे 'उखड़े हुए' नहीं है, न कभी वैसा अपनेको समझते रहे। उनके व्यक्ति-जीवनकी जड़ें भी समाजमें बहुत गहरे तक रहीं, और परम्परासे सम्पृक्त होनेका यह बोध बराबर उनकी रचनाओंमे स्पन्दित होता रहा। और जड़ोंका, 'स्थापित' होनेका यह सजग बोध, न केवल आत्म-विश्वास देता है बल्कि स्वाधीन भी करता है। ऐसा साहित्यकार तात्कालिक परिस्थितिसे और दैनन्दिन परिवर्त्तनोंसे ही शासित न होकर एक स्वतन्त्र, असम्पृक्त विवेक बनाये रख सकता है।

इसके विपरीत आजका साहित्यकार अनुभव करता है कि उसकी कहीं जड़ें नहीं हैं, वह उच्छिन्न और अनाधार है; और इस प्रकार वह तात्कालिक परिस्थितिका खिलौना बन जाता है। ऐसा न होता, तो साहित्यमें ऐसी स्थितिकी कल्पना भी असम्भव थी जिसमे निकट या दूर, देश या विदेशमे कहीं कोई घटना होते ही सारा साहित्यिक कृतित्व मानो बटन दबाकर उधर मोड दिया जाय। (यह नहीं कि हिन्दीमे ऐसा हो गया है, और शायद कभी हो भी नही; पर ऐसे दल है जो मानते है कि ऐसा होना चाहिए, जो यह स्थिति लाना चाहते है और बाहर नहीं तो अपने दलके इने-गिने 'साहित्यिक' पत्रोंमे ऐसा अभ्यास भी करते है।)

यह 'निर्गृहता या निर्मूलता' नये लेखककी पहली समस्या है। यों अगर यह परिस्थिति-जन्य तथ्य है तो इसका यह इलाज बताना तो व्यर्थ होगा कि 'जड़ें होनी चाहिए'; पर इस स्थितिके जो ख़तरे हैं, उनसे सतर्क कर देना लाभकर हो सकता है। खतरे दो दिशाओंमे हैं। एकका इंगित हम ऊपर कर चुके : नया साहित्यकार अपनेको तात्कालिक परिस्थितिके प्रति समर्पित कर दे सकता है। युग-धर्मके नामपर क्षण-धर्मी होकर एक ख़तरनाक क़िस्मका अवसरवादी हो जा सकता है और अपनी चिन्तनकी स्वाधीनता खो दे सकता है। दूसरा ख़तरा दूसरी दिशामे है। वह अतीतोन्मुख होकर फिर एक बीती हुई परिस्थितिको लाना चाह सकता है, एक रूमानी लालसा उसे रूढ़िवादी ही नही बल्कि प्रतिक्रियावादी बना दे सकती है। पहला खतरा एक प्रकारका आत्म-समर्पण है, दूसरा एक दूसरे प्रकारका। अन्त दोनोंका है व्यक्तित्वकी पराजय और मानसिक दासत्व।

[२]

एक और दृष्टिसे भी यह तुलना उपादेय है। सन् तीस-पैंतीसका साहित्यकार—यहाँ हम उस समयके बुजुर्गकी बात नहीं, उस समयके युवक

साहित्यकारकी बात कह रहे हैं—विद्रोही और परिवर्त्तनकामी था, पर अपने प्रति उत्तरदायी रहते हुए। वह मानता था कि सामाजिक-राजनैतिक घटनाओंमे व्यक्तिका हस्तक्षेप उन घटनाओंकी दिशाको प्रभावित कर सकता है, और उसे वैसा करना चाहिए। यह 'चाहिए'की भावना नैतिक भावना थी, और नैतिकताका आधार व्यक्ति-धर्म था। उदाहरणतया युद्धारम्भके बाद जो 'फ़ासिस्ट-विरोधी लेखक सम्मेलन' दिल्लीमे हुआ था, वह प्रगतिवादियोंका सम्मेलन नहीं था, न प्रगतिवादी दलकी प्रेरणासे ही हुआ था। प्रगतिवादियोंने भी उसमे भाग लिया था अवश्य; और उसके दौरानमे प्रगतिशील लेखक संघका एक अलग खण्ड-सम्मेलन भी किया था जिसमे सदस्येतर लोग नहीं बुलाये गये थे; पर 'फ़ासिस्ट-विरोधी लेखक सम्मेलन' मूलतः ऐसे ही व्यक्तियोंका सम्मेलन था जो एक नैतिक प्रश्नपर तटस्थ न रहकर अपनी नैतिक सहानुभूति स्पष्ट प्रकट करना चाहते थे—एक राजनैतिक दल या संगठनके रूपमें नहीं बल्कि स्वाधीन चिन्तकोंके रूपमे।

लेकिन आजका युवक लेखक इस अर्थमे उत्तरदायी नही है—यानी वह अपने प्रति उत्तरदायी नही है और उसकी दायित्व-भावनाका आधार नैतिक नहीं है। आज या तो वह किसी दलका सदस्य है और दलके प्रति उत्तरदायी है, और यह दायित्व नैतिक नहीं, राजनैतिक है—जहाँ उसका अपना विवेक दलकी नीतिसे मेल नहीं खाता वहाँ दलको नही, विवेकको छोड़ना ही सुसदस्यता है! या फिर, यह अनुभव करके, और ठीक अनुभव करके, कि विवेकका ऐसा उत्सर्ग एक मानसिक दासता होगी, वह दलोंसे तो अलग रहता है पर अपनी अकिंचनतासे किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो जाता है। सत्ता-लोलुप, सत्तापूजक दलोंमे बँटे हुए जगत्मे वह इस विश्वासको बनाये नहीं रख पाता कि उसकी नैतिक मान्यताएँ सामाजिक-राजनैतिक जीवनको प्रभावित कर सकती है। वह देखता है कि एक ओर किसी दलका पक्ष लेनेका मतलब है व्यक्तित्व खोकर लय हो जाना, अर्थात् एक नैतिक

इकाईके रूपमें अपनी सत्ता खो देना; तो दूसरी ओर स्वतन्त्र रहना चाहनेका मतलब है अकिंचन हो जाना, न-कुछ हो जाना, और जो न-कुछ है उसकी नैतिक भावना भला विश्व-शक्तियोंपर क्या प्रभाव डालेगी? इस प्रकार निस्सहायताकी एक भावनासे वह राजनीतिको आत्म-समर्पण कर देता है और बह जाता है। यह उसी आधार-हीनताका दूसरा पहलू है। आजके लेखककी स्थिति पुरानी पीढ़ीकी ही नहीं, बीचकी पीढ़ीकी अपेक्षामें भी जटिलतर है।

[३]

पुरानी पीढ़ियोंकी करुणाकी जड़में जीव-दयाकी भावना थी। बीचकी पीढ़ीने दयाको एक नये रूपमें देखा : एक सामाजिक उत्तरदायित्वके रूपमें; उसकी करुणा सामाजिक चेतनाके रूपमें प्रकट हुई। दोनों विश्व-युद्धोंके बीचका अन्तराल इस रूपान्तरका काल है : मानवीय करुणाके सामाजिक चेतनामें परिवर्तित होनेका काल। ग़रीबको सहानुभूति दी जाने लगी, इसलिए नहीं कि वह ग़रीब है वरन् इसलिए कि वह सामाजिक उत्पीड़नका शिकार है। इस कालका समूचा लेखन एक नये प्रकारकी सजग करुणाका लेखन है। और वह करुणा उस व्यक्ति या समाजके प्रति अकरुण भी रही जो ग़रीबीके सामाजिक पहलूको नहीं देखता रहा।

एक ओर मानवी करुणा सामाजिक चेतना बनी, तो दूसरी ओर वह एक नये अर्थमें मानवीय हुई—क्योंकि वह मानवपर केन्द्रित हुई। जीव-दयाके आदर्शमे मानव और मानवेतरका भेद प्रखर रूपसे सामने आया और उत्पीड़ित मानवकी सहायता तथा बन्दरों-चींटियोंको आटा खिलानेमे न केवल एक मौलिक गुणात्मक भेद देखा गया बल्कि एक विरोध भी : दूसरेसे पहला न केवल बेहतर था, बल्कि दूसरा अपराध था क्योंकि वह पहलेमें बाधक था।

यहाँ तक तो ठीक है। लेकिन आज फिर एक नयी स्थिति सामने है। केवल ग़रीब ही उत्पीड़ित नहीं है : केवल ग़रीब ही सहानुभूतिका

पात्र नहीं है। आज बल्कि वह निम्न मध्यवर्ग ही, जिसे हमें उत्पीड़कोंका गुरगा मानना सिखाया जा रहा था, अधिक उत्पीडित और सहानुभूतिका पात्र है। (निस्सन्देह विघटित होते हुए अभिजात वर्गमें भी करुणाके पात्र होंगे, पर उनकी बात हम नहीं कहते क्योंकि समूचे वर्गके बारेमें ऐसी साधारण स्थापना नहीं की जा सकती।) आज सन् तीस-पैंतीसका लेखन एक नये रूपमें दीखता है, और अचरज पैदा करता है। और उस समयका गम्भीर मानवीय सत्य आज एक पार्टीका नारा मात्र रह गया है; आजका गम्भीर मानवीय सत्य उसमें नहीं समा रहा है, कोई भले ही अपने नारोंसे अपनेको ही ऐसा चकरा ले कि आगे कुछ सोच न सके।

यह एक और प्रश्न है जिसका उत्तर नयी पीढ़ीके साहित्यकारको पाना है। वह अपनी करुणा किसको दे ? ग़रीबके वर्गको, जो ग़रीब तो है ही ? या निम्न मध्यवर्गको, जो ग़रीबसे किसी तरह कम कष्टमें नहीं है ? या कि समूची मानवताको वह करुणाका पात्र मान ले—जो स्वयं एक ख़तरनाक सिद्धान्त हो सकता है ? या फिर वह मानवताके प्रतीक स्वय अपनेको ही करुणाका परम पात्र मानले—जो कि पराजयकी इति है !

बीचकी पीढ़ी एक प्रश्नको लेकर बहुत चर्चा करती थी : 'कस्मै देवाय हविषा विधेम ?' आज यह प्रश्न कोई नही पूछता। न उसे उठाया ही जा सकता है। इसलिए नहीं कि 'कस्मै' का अन्तिम उत्तर हमने पा लिया है : इसलिए कि बाक़ीका पद निरर्थक हो गया है। 'देवाय' का कोई प्रश्न ही नहीं; 'हविष्'—क्या हमारा नैतिक चिन्तन अधिक मूल्यवान् है, या हमारा राजनैतिक कर्म ? 'विधेम'—जब हमारा कर्त्ता होना ही सन्दिग्ध है तो हम उत्तम पुरुषमें बात ही क्यों करें, दलका जो विधेय हो !

[४]

नये लेखकके स्वाधीन विकासमें स्थितिकी बाधाएँ और भी हैं। पिछले चालीस-पचास वर्षोंमें कई साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ आरम्भ हुई और बन्द

हुई। सब "दरिद्राणां मनोरथाः" नहीं थीं, लेकिन विलीन सब हो गयीं; अगर एक-आध पत्रिका बची तो इसीलिए कि 'साहित्यिक' विशेषणका मोह उसने छोड़ दिया। फिर भी, कुछ वर्ष पहले तक बराबर नये पत्र आते रहे, चाहे दो-चार अंकोंके बाद ही बन्द हो जानेके लिए! सृजनोत्कण्ठा बराबर बनी रही। साहित्यिक पत्र-जगत्की अवस्था उतनी हीन कभी नहीं थी जितनी वह आज है। आज जो दो-एक साहित्यिक पत्र निकलते हैं, उनके निकलते रहनेका रहस्य ढूँढ़ने चलें तो कदाचित् प्रत्येकके पीछे किसी एक आदर्शवादीकी हठधर्मीसे अच्छा कोई कारण न मिल सकेगा—कमसे कम यह तो कोई न कह सकेगा कि उसके ग्राहक इतने हैं कि वह आर्थिक दृष्टिसे सफल है! ऐसी स्थितिमें नये लेखकके लिए लेखन-जीवी हो सकना तो लगभग असम्भव है। यह नहीं कि पहले स्वतन्त्र लेखन-जीवियोंकी संख्या बहुत अधिक रही, पर अब स्थिति और भी विकट हो गयी है। पत्र-पत्रिकाओंकी अनुपस्थितिमें लेखकोंका सामने आना भी कठिन है; जो प्रतिष्ठित है उनकी बात छोड़ दें तो नयी प्रतिष्ठाएँ बनना कहीं कठिन हो गया है, क्योंकि उसके लिए चर्चा, समीक्षा, वाद-विवाद इत्यादि आवश्यक हैं और पत्र-पत्रिकाओंकी अनुपस्थितिमे ये सब भी नहीं हो सकते। दलोंके छोटे-मोटे स्थानीय पत्र अपने लघु उपयोगके बावजूद इस कमीको पूरा नहीं करते। रेडियोपर समीक्षाएँ होती हैं, लेकिन एक तो उनका साधारण स्तर अखबारोंके रविवारी क्रोड़पत्रोंकी आलोचनासे ऊँचा नहीं होता; कुछ इस लिए और कुछ निरी वार्ता होनेके कारण कोई उनपर ध्यान नहीं देता; दूसरे रेडियोपर भी प्रायः प्रतिष्ठित लेखकोंकी रचनाओंकी ही चर्चा होती है। रेडियो नयी प्रतिष्ठाएँ नहीं बनाता, नयी प्रतिभा सामने नहीं लाता, केवल प्रतिष्ठित प्रतिभाओंका दोहन या शोषण करता है। हमारी धारणा है कि यह बात भारतीय रेडियोके समूचे इतिहासके बारेमे निरपवाद सत्यके रूपमें कही जा सकती है।

ऐसी स्थितिमें नये लेखकके आगे मार्ग क्या है? शिक्षण, पत्रकारिता

और सिनेमाके व्यवसाय, रेडियो, प्रकाशन और प्रचारके सरकारी विभागोंकी नौकरियाँ, सरकारी पत्रोंका सम्पादन—ये ही मार्ग उसके सामने खुले रह जाते हैं। थोड़ी-बहुत सम्भावना कूटनीतिक पत्रकारिताके क्षेत्रमें हो सकती है—विदेशी दूतावासोंके प्रचार-प्रसार विभागोंमे। स्वच्छन्द रहना बहुत कठिन हो गया है और क्रमशः कठिनतर होता जाता है क्योंकि जीवनकी न्यूनतम आवश्यकताएँ भी इतनी महँगी हो गयी हैं। यह सकट भारतमें ही नहीं, सर्वत्र यही प्रश्न है। इग्लैडमें भी लेखक अधिकाधिक सरकारी नौकर होते जाते हैं; अमेरिकामें बहुतसे लेखक 'लेखन-शिक्षक' भी हो जाते हैं पर इस एक नये व्यवसायकी सम्भावनासे बहुत अधिक अन्तर नहीं पड़ता। रूसमें तो सभी लेखक अनिवार्यतः सरकारी कर्मचारी हैं ही, नहीं तो प्रकाशमें ही नहीं आ सकते। इस प्रकार सर्वत्र साहित्यकारका 'सरकारी-करण' हो रहा है, और इसका प्रभाव उसके मानसिक विकासपर होना स्वाभाविक है। वह क्रमशः अधिक आसानीसे अपनेको स्वाधीन व्यक्तिके रूपमें नहीं, एक संस्थाके कर्मचारीके रूपमे देखता है। जिस प्रकार दल-निष्ठा उसके स्वतन्त्र विवेकको सीमित करती है, उसी प्रकार संस्था-निष्ठा भी। किस लेखकने नहीं अनुभव किया होगा कि कलका स्वाधीन साहित्य स्रष्टा आजका रेडियो-कर्मचारी या प्रकाशकका सलाहकार बन कर, अपनी सस्थाके दृष्टिकोणको सम्पूर्णतया अपना कर, आज उसके पास कोई ऐसा प्रस्ताव लेकर आया है जिसे कल वह स्वयं अग्राह्य मानता था ! सन् तीस-पैंतीसका साहित्यकार विद्रोहमें भी अपने प्रति उत्तरदायी था; आजका सस्थानिष्ठ साहित्यजीवी ऐसे नैतिक दायित्वोंके बग़ैर भो मज़ेमें चल सकता है। (बल्कि उनके बग़ैर ही मज़ेमे चल सकता है, उनको माननेमें तो मज़ा किरकिरा हो जायगा !)

[५]

चित्र निस्सन्देह काफ़ी अँधेरा है। लेकिन निराशाजनक नहीं। मैंने समस्याको उघाड़ कर सामने रख दिया है; उसका हल तो नये लेखकको

ही खोजना होगा। वह मेरा काम नहीं है। ऐसा इस लिए नहीं कि मुझे उसकी समस्यासे सहानुभूति नहीं, वरन् इस लिए कि मैं जो भी कहूँ, वह 'बाहर'से मिली हुई सलाह ही हो सकती है, और समाधान 'भीतर'से होना चाहिए। सलाहके तौरपर अपने अनुभवकी दो-तीन बातें मैं कह सकता हूँ। एक तो यह, कि समस्याको आँख मिलाकर देख लेना भी उपयोगी है। उसमें समाधानकी जो माँग है, वही समाधान उत्पन्न करेगी। दूसरे यह, कि समस्याका रूप नया और जटिलतर होते हुए भी मूलतः समस्या वहीं है : एक स्वाधीन व्यक्तित्वका निर्माण, विकास और रक्षण। लेखकको वह स्थिति और वातावरण खोजना और गढ़ना है जिसमें स्वाधीन व्यक्तित्व पनप सके, उन साधनोंको पाना और बनाना है जिनके द्वारा वह व्यक्तित्व अभिव्यक्त हो सके। उसे न समष्टिमें विलीन हो जाना है, न निरे स्वच्छन्दतावादमें पलायित होना है; न सर्वसत्तावाद स्वीकार करना है, न सम्पूर्ण अराजकता। वह उत्तरदायित्व-मुक्त नहीं है; पर उसका उत्तरदायित्व न तो अधिकारकी अभ्यस्त पुरानी पीढ़ीका अपने अधिकारके प्रति उत्तरदायित्व है, न परिवर्त्तन-कामी बीचकी पीढ़ीका अपने प्रति उत्तरदायित्व। उसका उत्तरदायित्व है स्वाधीन विवेकके प्रति—यद्यपि मैं इसकी कठिनाइयाँ ही गिनाता आया हूँ! लेकिन अगर वही एक रास्ता है, तो उसकी कठिनता या दुर्गमता भी ऐसी बाधा नहीं हो सकती जिसे उलाँघ न सकें। 'नान्यः पन्था विद्यते ?' 'शुभास्ते पन्थानः !'

●

पत्र-साहित्य और पुस्तक-साहित्य

स्थायित्वकी माँग मानवमें स्वाभाविक है। युद्ध, क्रान्ति यौर अशान्तिके समय ही वह उस परिस्थितिको स्वीकार करता है जिसमे टिकाऊपन एक बहुत ही सापेक्ष्य वस्तु हो जाती है। पत्र-साहित्य और पुस्तक-साहित्यका स्वाभाविक और सुपरिचित अन्तर भी ऐसे कालमें धुँधला होकर मिट-सा जाता है, और तब हम 'पत्र-पुस्तक', 'बुक-मैगेज़ीन', 'नियत कालिक—अथवा अ-नियतकालिक !—साहित्य'की चर्चा सुनने लगते हैं। पिछले विश्व-युद्धके समयसे पत्र-पुस्तकोंका चलन हमारे देशमें भी पनपा और फैला। आजकलके क्रमागत प्रकाशनोंमें कदाचित् ऐसे ही संकलनोंका स्थान ऊँचा पाया जायगा। (क्रमागत प्रकाशन उन्हें इस लिए कहा गया है कि वे एक शृंखलामें बँधे तो होते हैं, पर उनके प्रकाशनकी कोई नियत अवधि नहीं होती—या होती भी है तो उसका निर्वाह कम ही होता है !)

युद्धकालमें ऐसे प्रकाशनोंके आविर्भावके कई कारण थे, जिनमें आर्थिक और क़ानूनी कठिनाइयाँ भी थीं। यों इन कठिनाइयोंका कारण भी युद्ध-जन्य परिस्थितियाँ ही थीं। यह भी उल्लेख्य है कि इन प्रकाशनोंने 'अपेक्षया अधिक स्थायी' साहित्य देना चाहा क्योंकि प्रचलित पत्र-पत्रिकाओंमें क्रमशः अधिक अनुपातमें कूड़ा-कर्कट भरा जाने लगा था। किन्तु इसका कारण फिर युद्धजन्य ही था : खड़े-खड़े खाने, वर्दी पहने सोने, कतार बाँधकर सिनेमा-नाचघर जाने और सफ़रमें दौड़ते हुए पढ़नेका आदी होकर मानव सब-कुछ जल्दी, तेज़, तीखा, गर्म और लुभावना माँगने लगा था।

युद्ध-कालका यह फूल युद्धान्तमें झर नहीं गया। बल्कि स्थितियोंने

उसकी उपयोगिताको एक अनिवार्यताका-सा रूप दे दिया, और अब यह माना जा सकता है कि 'पत्र-पुस्तकें' हमारी रोज़मर्रा पाठ्य-सामग्रीमें एक निश्चित स्थान रखती हैं जिसे किसी दूसरे प्रकारका साहित्य नहीं भर सकता। क्योंकि वे हमारे वर्त्तमान जीवनकी एक माँग पूरी करती हैं।

वह माँग, और वह स्थान क्या है, इसकी ओर ध्यान देना हितकर होगा।

पत्र-पुस्तकोंकी पहली उपयोगिता यह है कि वे उन समकालीन साहित्य-प्रवृत्तियोंको प्रतिबिम्बित करती हैं जो अन्यथा ओझल ही रहतीं। नयी प्रवृत्तियोंका द्योतक समूचा साहित्य न तो पुस्तकाकार छप ही सकता है, न उसका छपना आवश्यक अथवा उचित ही है। लेखक पुस्तक लिखता है तो अपने परिश्रमके फल-स्वरूप एक ऐसी चीज़का निर्माण करता है जो, साहित्यालोचनकी कसौटीपर वह चाहे जैसी उतरे, एक स्थायित्व रखती है। किन्तु पुस्तक लिखनेसे पहले, या उसके साथ-साथ, उसके लिए प्रयोग और अभ्यास और नयी शैलियों और परिपाटियोंका अन्वेषण और छान-बीन आवश्यक है। यह सब वह कहाँ करे? इसके लिए ये 'पत्र-पुस्तकें' ही उपयुक्त स्थान हैं। अगर साहित्य एक प्रशस्त उद्यान है जिसमें पेड़ फूलते-फलते हैं, तो 'पत्र-पुस्तक' वह क्यारी है जिसमें पहले चारा या कलम तैयार की जाती है।

पत्र-पुस्तकें उस साहित्यकी सवाहक होती हैं जिसकी टक्कर समकालीन साहित्यमे क्रान्तिकारी हलचल पैदा कर सकती है, लेकिन जो इसके बावजूद (या इसी कारण) पुस्तकाकार नहीं छप सकता और प्रायः प्रकाशनों द्वारा उपेक्षित या अपमानित होता है। ऐसे साहित्यके लिए पत्र-पुस्तकें क्षेत्र तैयार कर देती हैं। इसी प्रकार इन्हीं पत्र-पुस्तकोंमें लेखक हानि-लाभकी ओरसे उदासीन होकर—या कमसे-कम उससे बाधित न होकर—आर्थिक या सामाजिक दबावसे मुक्त, निर्भीक भावसे अपने विचार प्रकट कर सकते हैं।

पत्र-पुस्तकोंकी एक उपयोगिता यह भी है कि स्वाधीनचेता, रूढ़ि-विरोधी और आदर्शवादी लेखक अपनेको पुस्तक और पत्र-प्रकाशकों द्वारा उपेक्षित पाकर आत्माभिव्यक्तिके लिए अपना अलग प्रकाशन कर लेते हैं। देश-विदेशमें इस प्रकारके अनेक उदाहरण मिल जावेंगे। ऐसे पत्र सर्वदा दीर्घजीवी नहीं होते, किन्तु इनकी उपयोगिताकी परख उनकी आयुसे नहीं, उनके उद्देश्योंसे होती है। ऐसा भी होता है कि ऐसा पत्र केवल एक अंक निकालकर बन्द हो जाय—किन्तु उससे क्या? अस्थायी ही सही, वह व्यापारिक लाभ-विचार और प्रचलित रूढ़ियोंके दबावसे मुक्त होकर साहित्यिक अभिव्यक्तिका एक साधन तो रहा।

संक्षेपमें कहा जा सकता है कि पत्र-पुस्तकें साहित्यिक चेतनाकी मुक्त अभिव्यक्तिका साधन हैं, और उस अभिव्यक्तिके नियमनकी चेष्टाओंके प्रति साहित्यकारके विद्रोहका प्रतीक। उनके दृष्टिकोण अलग-अलग (और परस्पर विरोधी तक!) हो सकते हैं, वे साहित्यके विभिन्न अगोंसे सम्बद्ध हो सकते हैं, पर एक बात जो उनमे समान रूपसे मिलेगी वह है इस बातका आग्रह कि लेखकोंको (और विशेषतया नये लेखकोंको) अवसर दिया जाय कि वे पाठक-वर्गके पास निर्बाध पहुँच सकें।

निस्सन्देह इसका एक दूसरा पक्ष भी है। रूढ़िके प्रति असन्तोष-भाव तभी उपयोगी होता है जब रूढ़ि भी हो। नियमनके प्रति विद्रोह-भाव, परम्पराकी अवज्ञा, तभी अर्थवती होती है जब नियमनका प्रयत्न हो, परम्परामे कुछ दम हो। नये लेखकोंको भी पाठक तक पहुँचाना वास्तवमें तभी सच्चे अर्थमे सामाजिक दृष्टिसे फलप्रद होता है जब वे पुराने और प्रतिष्ठित लेखकोंके साथ आवें और उनकी पक्तिमे स्थान ग्रहण करते हुए उस स्थानके लिए अपनी पात्रताको प्रत्यक्ष प्रमाणित होने देते चलें। पत्र-जगत्के सन्दर्भमे इस बातका अनुवाद यह हुआ कि पत्र-पुस्तकें और अग्रगामी ('एवाँ गार्द') नियत अथवा अनियत-कालिक,

अपनी सच्ची उपयोगिताके लिए ऐसी स्थिति माँगते हैं जिसमें साधारण व्यावसायिक आधारपर चलनेवाली, किन्तु प्रतिष्ठित, और जाने-माने लेखकोंका सहयोग पानेवाली पत्रिकाएँ भी हों। ऐसी पत्रिकाओंकी अनुपस्थितिमें केवल नये लेखकोंकी, केवल विद्रोहियोंकी रचनाओंका अलग संकलित प्रकाश अँधेरेमें अत्यधिक बढ़ गये किन्तु दुर्बल और अल्प-प्राण पौधेका-सा अस्वाभाविक विकास भी हो सकता है, कच्चेपनकी उपासना का नया सम्प्रदाय भी बन सकता है, निरी असहिष्णु और आधारहीन अराजकताको भी प्रश्रय दे सकता है और—एक (या अनेक) नयी 'हाथी दाँतकी मीनार' भी खड़ी कर सकता है जिसपर झण्डा विद्रोहका फहराता हो किन्तु भीतर रहनेवालोंकी प्रवृत्ति अखण्ड गुहावासके लिए अभेद्य व्यूह रच लेने-भर की हो !

और तथ्य यह है कि इधर हिन्दीमें सुदृढ व्यावसायिक आधार वाली साहित्यिक पत्रिकाएँ, जिनकी व्यावहारिकता आदर्श-विरोधी न हो पर जिनके पैर भूमिपर टिके हों और जिन्हें गगन-विहारकी कोई आकांक्षा न हो, नहींके बराबर है। असन्तोष प्रकट करनेवाले यथेष्ट हैं, किन्तु किसके प्रति होकर वह सारवान् होगा यह बताना कठिन है। एक लक्ष्य-हीन विरोध, जो कहीं भी तीर लग जानेसे अपनेको सुधन्वा समझ लेता है— यह कोई स्वस्थ या स्वास्थ्यकर स्थिति नहीं हो सकती····

× × ×

इधर हिन्दीमें बहुतसे नये पत्र निकलते रहे हैं। साहित्यके लिए माँग ज़्यादा है, पढनेवालोंकी संख्या बढ़ गयी है, अधिक व्यक्तियोंके पास पुस्तकें ख़रीदनेके लिए अधिक पैसा है, फिर स्वाधीनताके साथ-साथ अपनी भाषाओंके प्रति एक नया लगाव जागा है, और जन-साधारणके स्तरपर नयी चेतना तो है ही। सब ओर माँग है कि 'और अधिक कल्चर, अधिक अपनी कल्चर !'

राष्ट्रीय भावनासे उत्पन्न इस माँगका प्रभाव प्रादेशिक साहित्यों और जन-भाषाके साहित्योंकी नयी उठानमे स्पष्ट लक्षित होता है। इस प्रवृत्तिका विशिष्ट महत्त्व इसलिए है कि यह ऐसे समयमें प्रकट हो रही है जब कि दुनियामें एक अन्तर्राष्ट्रीय और सार्वलौकिक केन्द्रीकरणका आन्दोलन चल रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय आदान-प्रदान और सहयोगका लक्ष्य तो सबको स्वीकार है, किन्तु लक्ष्य-सिद्धिके साधनोंको लेकर बड़ा विवाद होता है। एक पक्ष है कि एक कृत्रिम विश्व-व्यापी नौकरशाहीके उद्योगोंसे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग कदापि नहीं स्थापित हो सकता; विश्व-बन्धुत्वकी कोई आशा हो सकती है तो स्वाधीन वर्गो और समाजोंके स्वाभाविक आदान-प्रदान और परस्पर सहज सहयोगके आधारपर ही। सस्कृतिके क्षेत्रमें इसका अर्थ है प्रादेशिक विकास—स्थानीय परम्पराओं और लोक-कलाओं और शिल्पके सम्पर्कसे परिपुष्ट प्रादेशिक कलाओंकी उन्नति। कलाको जीवनमे उसका उपयुक्त स्थान—दैनन्दिन जीवनके ताने-बानेमे अविच्छिन्न रूपसे बुने हुए 'पैटर्न' का स्थान भी इसी प्रकार दिया जा सकता है। यह स्थान खोकर कला या साहित्य आकाश-बेल हो जाता है; वह स्वयं भले ही यह समझता रहे कि उसका धरातल ऊँचा उठ गया है, पर वास्तवमे वह प्रेरणाके मूलस्रोतसे कटकर अलग हो जाता है। आजके सभी उत्तरदायी कलाकार इस वैच्छिन्न्यका अनुभव करते और अपने ढंगसे इस दरारको पाटने या उसके आर-पार सेतु बाँधनेका उद्योग करते है। साधारणतया कहा जा सकता है कि आज कलाकारों और साहित्यकारोंका बहुमत इसी पक्षमें है कि प्रादेशिक लोक-संस्कृतियों और लोक-साहित्योंको प्रोत्साहन दिया जाय और उनसे नाता जोड़ा जाय; क्योंकि वे अनुभव करते हैं कि सहज आत्मा-भिव्यक्तिके लिए यह मार्ग ही ठीक है, न कि बढ़ते हुए केन्द्रीकरण और उसके आनुषगिक सरकारी नियन्त्रण और निरोधका रास्ता।

दिशा-निर्देश और अभिव्यक्तिका माध्यम न मिलनेसे किसी भी देश, प्रदेश अथवा जनपदकी कलाका ह्रास अवश्यम्भावी है। उस दशामे तो

और भी अधिक जब कि बाह्य प्रभावोंका असर उसपर पड़ रहा हो। एक विदेशी पत्र-पुस्तकके सम्पादकने इसी लिए लिखा है कि लेखकोंको अपने-अपने प्रदेश-जनपदोंमें घूम-घूमकर उसके गलियारोंको साहित्यमें पुनरुज्जीवित करना चाहिए।

निस्सन्देह यह प्रवृत्ति बड़ी आसानीसे निरे सांस्कृतिक जीर्णोद्धार—रिवाइवलिज़्म—में परिणत होकर लक्ष्य-स्खलित हो सकती है, और आज के हिन्दी साहित्यमें जीर्णोद्धारकी प्रवृत्तियाँ ढूँढ़नेके लिए बहुत बारीक-बीनीकी ज़रूरत भी नहीं पड़ेगी। किन्तु इस ख़तरेका होना रास्तेको ग़लत नहीं प्रमाणित करता; यह कोई तर्क नहीं है कि जो रास्ता साहस नहीं माँगता वही रास्ता ठीक है। आवश्यकता इस बातकी है कि नये पत्रों—पत्र-पुस्तकोंमें प्रादेशिकता और अन्तर्देशिकताका सामंजस्य किया जाय। पत्र प्रादेशिक इस अर्थमे हो कि अपने प्रदेशके साहित्यकारोंको प्रमुख स्थान दे, और अन्तर्देशीय इस अर्थमें कि उसमें—कम मात्रामें—देशान्तरोंका श्रेष्ठ साहित्य भी स्थान पावे। इसीसे गति और संयम, चेतना और सस्कार, प्रगति और संस्कृतिका वह समन्वय हो सकता है जो सम्पूर्ण जीवन है।

और दोनों ही के लिए दृष्टिके संस्कारकी आवश्यकता है: दीठका साधारण व्यास जितना है उससे दूरकी चीज़ देखनेमें आँखपर ज़ोर पड़ता तो उससे अधिक निकटकी चीज़ देखनेमें भी कमज़ोर नहीं पड़ता। व्यापक दृष्टि इस या उसको अधिक अच्छी तरह देखनेमें नहीं है बल्कि दृश्य-मंडलका व्यास बढ़ानेमें है। अर्जुनके लक्ष्य-भेद वाली बात जितनी सच है, उससे उलटी बात भी कम सच नहीं है—कि केवल केन्द्र-बिन्दु को देखना पर्याप्त नहीं है, केन्द्रपर आँखें टिकाये रहते भी पूरी परिधिका अवलोकन कर लेना ही वास्तविक दृष्टि है। बल्कि आज-कलके जटिलतर जीवनमें यही अधिक सच है, जैसा कि कोई भी आधुनिक यन्त्र-चालक बता सकता है। विमान-चालकोंके लिए एकाग्रताके साथ-साथ परिधि-दर्शिता (पेरिफ़ेरल

विज़न) कितना महत्त्व रखती है, यह उसके लिए दी जानेवाली अलग ट्रेनिंग बताती है ।

× × ×

क्या हिन्दी पत्र-पुस्तक-साहित्य अपने क्षेत्रके उत्तरदायित्वका निर्वाह करता रहा है और कर रहा है ? न्यूनाधिक मात्रामें, हाँ ।

संस्कृतिकी परम्परा जब बहुत लम्बी हो जाती है, तो उसके संचालनमें एक शिथिलता और उदासीनता आ जाती है; और विदेशी आलोचक बड़ी आसानीसे कह जाया करते है कि छः-सात हज़ार वर्षोंके बोझसे दबी भारतीय संस्कृतिका पराजयवादी हो जाना स्वाभाविक है । इसकी अन्विति यों भी की जा सकती है कि कालके महामरुके पार सस्कृतिका गधा हाँकते-हाँकते गधेवानमें भी कुछ गधापन आ जाना अप्रत्याशित नहीं है ! किन्तु इधर उस मरुस्थलके ऊँचे-नीचे गलियारोंमे लगातार दुलत्तीपर दुलत्ती खाकर गधेवान चेत उठा है । गधेको घोड़ा नहीं बनाया जा सकता, न उसके पख उगाये जा सकते हैं, किन्तु किसी यानमें उसे साथ ले उड़ा जा सकता है, और वह यान लोक-चेतनाका ही यान है इसे लोग जानने लगे है । परन्तु काम बहुत हैं, बहुत बड़ा है; कितना भी हम करें, आगे और भी बहुत कुछ करनेको रह जाता है । जो हारते नहीं है, वे इसीसे प्रेरणा ग्रहण कर सकते है कि इस दिशाका परिप्रेक्ष्य जल्दी चुक जाने वाला नहीं है और सामयिक साहित्यको—जिसके साहित्य होनेपर भी उतना ही बल है जितना उसके सामयिक होनेपर—यह सुविधा जल्दी नहीं मिलने वाली है कि बैठकर अपनी पीठ ठोंके या पैर सहलावे । यह सन्तोषका विषय हो सकता है कि कुछ एक पत्र-पुस्तकोंने जल्दी ही अपने लिए गौरवका स्थान बना लिया था और ऐसी स्थिति आ सकती थी कि चिरकालसे प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओंसे पहले उनका नाम लिया जाया करे । किन्तु दूसरी ओर यह भी सच है कि नयी पत्र-पुस्तकोंकी संख्यामे इधर जितनी वृद्धि हुई है, उनमे संकलित वस्तु उसके अनुपातमें नहीं बढ़ी ।

हमारी समस्या अब यह नहीं है कि पत्र-पुस्तकोंकी संख्या कम है। अब तो यही सम्भावना दीखती है कि शीघ्र ही उनका बाहुल्य ही एक समस्याका रूप ले ले। काग़ज़के संकटके बावजूद हिन्दीमें ही दर्जनों नये पत्रोंके आवेदन निर्णयकी प्रतीक्षा कर रहे हैं और बीसियों नयी योजनाओंकी घोषणा हुई है। नये आयोजित सब पत्र साहित्यिक नहीं हैं। यह भी कहा जा सकता है कि सबके सब शायद निकलेंगे भी नहीं (एक अंक भी नही !); फिर भी प्रश्न यह है कि क्या इनमेंसे आधे भी नये पत्र निकलना ठीक होगा ? हमारा पाठक-वर्ग बढ़ा है, बढ़ना चाहिए, और अभी उसके और बढ़नेकी गुंजाइश है। लेकिन पाठकोंके दुगुने हो जानेपर पत्र तिगुने-चौगुने तक तो हो सकते है, दस-पन्द्रह गुने हो जानेसे क्या लाभ होगा—विशेषकर उस अवस्थामें जब कि लेखकोंका वर्ग बढ़ाकर दुगुना भी न किया जा सके ?

अधिक प्रकाशन, लेखकोंसे अधिक सामग्रीकी माँग, इसलिए लेखकोंके द्वारा अधिक माँग, अधिक पारिश्रमिक। यह तो एक पूर्वापर शृङ्खला हुई। और कौन नहीं मानेगा कि पारिश्रमिककी दर बढ़नी चाहिए ? परन्तु एक और शृङ्खला है। प्रकाशन अधिक, लेखन उतना ही, विकल्प सीमित, इसलिए घटिया प्रकाशन। अथवा—लेखक ही प्रकाशक, यानी प्रकाशक-पदस्थ लेखक और निरे लेखकमें क्रेता-विक्रेताका सम्बन्ध, एक प्रकाशक-लेखक और दूसरे प्रकाशक-लेखकमें प्रतियोगिता; फलतः निरे व्यवसायी प्रकाशकके सामने आदर्शवादी साहित्यकार-प्रकाशककी पराजय। यह तीसरा पूर्वापर है। पाली हार जाना एक बात है, हारी पालीमें जा मिलना दूसरी····जो लेखक, पाठक, साहित्यकार, साहित्य-रचनाको व्यावसायिकतासे मुक्त रखना चाहते हैं क्या वे इस समस्यासे और इसके दूर-व्यापी प्रभावोंसे परिचित है, इसका सामना करनेकी तात्कालिक आवश्यकताके प्रति सतर्क है, उसके निराकरणके उद्योगमे सचेष्ट हैं ? हम नहीं जानते····आश्वस्त होनेके लिए हमारे पास यथेष्ट प्रमाण नहीं है।

एक ही हाँड़ीको क्रमशः बढ़ती हुई खानेवालोंकी संख्याके लिए पकानेवाले क्रमशः बढ़ते हुए रसोइए—यह परिस्थिति न प्रीतिकर है, न कल्याणकर। हाँड़ियाँ बढ़नी चाहिए, भोज्य सामग्री भी बढ़नी चाहिए....

मैं जल्दी हड़बड़ाता या घबराता नहीं हूँ, न समस्यासे भागनेकी ही मेरी प्रवृत्ति है। जब-तब ख़तरेकी घण्टी बजाना या किवाड़-झरोखे बन्द कर के अर्गला चढ़ाना मुझे घृण्य है। खुली आँखें, बँधी मुट्ठियाँ, अविचलित बुद्धि, स्पन्दनशील हृदय, इन्हे मै मानव-गुण भी मानता हूँ और मानवता के प्रति दायित्व भी। आसन्नको कभी अनदेखा नहीं करता इसलिए अपनेको अरक्षित भी नहीं मानता, आपन्न भले ही पाऊँ। इस लिए मैं कहना चाहता हूँ कि उन तमाम लेखकोंके सामने, जो लेखन-कर्मका सम्मान करते है, जो उसे उपजीव्य बनाकर भी, उसके प्रति अपना एक नैतिक दायित्व समझते है, जो एक बनी-बनायी लीकमें पड़कर हाँके जाना नहीं चाहते, जो कलाको स्वाधीन-चेतनाकी स्वाधीन अभिव्यक्ति मानते हैं, एक बहुत बड़ा प्रश्न और एक महान् कर्त्तव्य है। उन्हे उसका सामना करना है और एक साथ मिलकर करना है। कलाकार सदासे व्यावहारिक व्यक्तिवादी रहे हैं पर कला-सृष्टिसे बाहर उन्हे कन्धा मिलाना होगा नहीं तो उनका टिके रहना कठिन हो सकता है। साहित्यकारोंको युगके सन्देशवाहक तो मान लिया जाता है, पर उनका सन्देश सुना जाता रहे, इसके लिए उनके स्वरोंका समवेत होना उपयोगी है। नही तो अलग-अलग आवाज़ें खो जावेंगी बल्कि एक दूसरेको डुबा देंगी।

निस्सन्देह हमें अब चार करोड़ साक्षरोंकी ही नहीं, पूरे चालीस करोड़की बात सोचनी है, और इतने पाठकोंके लिए पर्याप्त पाठ्य सामग्री प्रस्तुत करनेमें नये सब प्रकाशन खप सकते है। पर केवल अधिक छपे हुए पन्ने तैयार करना ही उद्दिष्ट नही है—कमसे कम साहित्यकारोंको इस पक्षके साथ नहीं उलझना है। जो छपे वह लेखकके नये डीलके अनुपातमें ठीक, बड़ा और तगड़ा हो यह भी लेखकको देखना है....

'हमारे घर पाहुने आये—दे दालमें पानी' क्रमिक आत्मघातका मार्ग है और लेखकको न केवल आत्मघात नहीं करना है वरन् जीवन-दान भी देना है—और जीवन जलका भी एक पर्याय है इस शब्द-मायाकी ओट भी आत्मघातका ही एक रूप होगा। बीसवीं सदी ही सही, कलियुग ही सही, मानव आदर्श और मूल्य इतने नहीं बदल गये हैं!

●

हिन्दी पाठकके नाम

ढंग तो पुराना है : सुधी पाठक, सहृदय पाठक, विज्ञ पाठक, रस-मर्मज्ञ पाठक—इन सम्बोधनोंसे अपनापेका पर्यावरण बनाकर सर्व-साधारणको अपनी आलोचक-बुद्धिको विश्राम देनेके लिए आमन्त्रित करना.... या आजके रूखे युगमें, जब रुखाई योग्यताका और बेरुख़ी सत्ताका लक्षण मान ली जा सकती है, जब बदतमीज़ी ही फ़ैशन है, पाठकको पुकारते समय कोई आदर-सूचक विशेषण न लगा कर केवल 'हिन्दी पाठक !' कहनेसे भी काम चल जायगा। असल उद्देश्य तो यह है कि निहोरेसे उसे कहा जाय कि 'मेरी ओर देखो, मेरी बातका महत्त्व पहचानो और मुझे साधुवाद दो।' (और इस प्रकार स्वयं अपनी धीमत्ता, सहृदयता, विज्ञता या मर्मज्ञताको प्रमाणित करो—कैसा सूक्ष्म चारा डाला गया है पाठककी अहन्ताके भोले पंछीको लुभानेके लिए !)

लेकिन मुझे पुरानी बात नहीं कहनी है; न ऐसे सम्बोधनकी आड़में कोई नाता जोड़कर अपने व्यक्तिगत पूर्वग्रहों या पक्षपातके लिए व्यापक समर्थन प्राप्त करना है। मैं अपनेको साहित्यके प्रति उत्तरदायी मानता हूँ तो इसे भी उस दायित्वका अंग मानता हूँ कि जहाँ मैं या मेरा कार्य आलोच्य विषय हो, वहाँ व्यक्तिगत नाता जोड़ कर आलोचनाकी व्यक्ति-निरपेक्षतामें बाधा न डालूँ।

तो, पाठक, मुझे आपकी सहृदयताकी या मर्मज्ञताकी दुहाई देकर आपका अनुमोदन नहीं माँगना है। बल्कि जहाँ तक प्रशंसा या श्लाघाका प्रश्न है, मैं मान लेना चाहता हूँ कि आप मेरे अपरिचित, ग़ैर आदमी हैं।

तो आपको सम्बोधन क्यों कर रहा हूँ ? पिछले डेढ़-दो सौ वर्षोंके, और विशेष रूपसे खड़ी बोली हिन्दीके साहित्यकी गति-विधिका अध्ययन करते या

पुस्तकों और पत्रोंमें उसका प्रतिचित्र खींचनेका प्रयत्न करते समय मैं थोड़ा-बहुत यह अभ्यास भी करता रहा हूँ कि उसके पाठकका—अर्थात् आपका—चित्र भी हिन्दी साहित्यके लिए खींच सकूँ। क्योंकि दोनों स्पष्ट ही अन्योन्य आश्रयी हैं, और परस्पर एक दूसरेके आकारको निर्धारित या परिवर्त्तित करते हैं।

और अब कुछ-कुछ ऐसा लगने लगा है कि आपके चित्रकी धुँधली-सी आकार-रेखा मेरे सामने बन चली है। उसमे रंग भर कर पूरा चित्र बनाऊँ, इससे पहले उस रेखाकृतिको आपके सम्मुख रखना चाहता हूँ। दिलके आईनेमें सरकारकी जो तसवीर बनी है, उसे सरकार क्या पहचानते है ?

आप कौन हैं ? 'कौन तुम अज्ञात-वय-कुल-शील मेरे मीत ?' मै नहीं जानता। पर जानता हूँ कि बरसोंसे आपके लिए लिखता आया हूँ; स्वय भी लिखता आया हूँ और दूसरोंका लिखा भी नाना प्रकारसे आपके सम्मुख लाता रहा हूँ—संकलित कर के, सम्पादन कर के, पुस्तकों, सग्रहों और पत्रिकाओंके रूपमें, आलोचना और अनुमोदन कर के····और मानता रहा हूँ कि यह परिश्रम व्यर्थ नहीं है, असमय नहीं है, और अपात्रके लिए नहीं है, अग्राह्य नहीं है। फिर भी, आपको मैं जानता हूँ, यह कह सकनेका अधिकारी अपनेको नहीं मानता आया, न अभी ऐसा दावा कर सकता हूँ।

एक पाठकको मैं जानता था। वह कोई पुस्तक या पत्रिका केवल पढ़नेके लिए नहीं मँगाता या खरीदता था। ऐसा 'साहित्य' मँगाना या खरीदना उसके लिए मानो एक श्रद्धाकी घोषणा थी—जीवनके कर्म-काण्डका एक छोटा-सा अंग था। वर्षोकी दासतासे—विदेशी सत्ताकी, निरक्षरता (सम्पूर्ण या पूर्णप्राय) की, अर्थकी, जाति, वर्ण, प्रदेश, पेशे, बिरादरी और अज्ञानकी संकीर्णताओंकी दासतासे जो सांस्कृतिक जाड्य उसमें आ गया था, उसकी परिधिमें रहते हिन्दीकी पत्रिकाके लिए चन्दा देना या हिन्दी-पुस्तक खरीदना अपने परलोकका ऋण चुकानेके बराबर था। क्योंकि पत्रिकाका चन्दा या पुस्तकका दाम चुकाकर वह मानो अपने देश, धर्म,

जाति, भाषा, संस्कृति आदि सभीका एक पुंजित सदस्य-शुल्क चुका देता था। इन सबको अलग-अलग देखने या उनका सम्बन्ध समझनेकी शक्ति या प्रवृत्ति उसमें नहीं थी। होती भी कैसे, जब कि अपेक्षया प्रबुद्ध वर्ग भी 'हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान' को एक अविभाज्य इकाई, और एक अकाट्य तर्क-परम्परा मानता था, निरा भावनागत सत्य नहीं! 'हिन्दीकी पुस्तक? हाँ, हमारे घरमें है।'....'हिन्दीकी पत्रिका? हाँ, हमारे घरमें तो आती है।' हाँ, अपने लोक-परलोकके प्रति हम सावधान है, अपने कल्याणकी व्यवस्था हमने कर ली है!

पर वह पाठक आप नहीं हैं।

एक और पाठकको भी मैं जानता था। वह हिन्दीको प्रेम करता था। उसे अत्यन्त अपनी मानता था। ठीक वैसे ही अपनी, जैसे कि अपनी बहू-बेटी अपनी होती। और बहू-बेटीकी भाँति ही उसे अन्तःपुरमें रखता था। 'हिन्दी पुस्तक? हिन्दी पत्रिका? हाँ, हमारे यहाँ आती है—घरमें पढ़ती हैं।' और बाहर? बाहर कचहरीके लिए उर्दू-फ़ारसी है, व्यापारके लिए लडे-महाजनी है, हाकिमके लिए अग्रेज़ी है। प्रखर संघर्षके जीवनकी इन उलझनोंको बाहर ही रखकर, असूर्यम्पश्या अन्तःपुरिकाओंके लिए—नहीं-नहीं, गृह-लक्ष्मी आर्य-ललनाओके लिए—चाँदकी शीतल किरणें ही यथेष्ट है....

वह पाठक भी आप नहीं है।

एक और पाठकको मैं जानता हूँ। जानता हूँ कहते थोड़ा झिझकता हूँ, पर जानता था कहना ठीक न होगा। क्योंकि उसका अभिप्राय यदि यह समझा जावेगा कि वह पाठक पहले था और अब नहीं है तो यह ग़लत होगा; और यदि यह ध्वनि ली जावेगी कि उसे मैं पहले अधिक जानता था और अब कम जानता हूँ तो यह भी ठीक न होगा। क्योंकि वास्तवमें पूरा जानता कभी नहीं था; और वास्तवमें वह पाठक भी था नहीं,

है । मुझे कुछ मान है कि अब भी वह आस-पास घेरे हुए है । यह पाठक पढ़नेको पढ़ना नहीं मानता—या यों कहूँ कि पढ़ने-पढ़नेमें भेद करता है । पढ़ना साध्य तो है नहीं, साधन है । काहे का साधन ? उन्नतिका । और उन्नतिकी परिभाषा स्पष्ट है—तरक्क़ी, यानी नौकरी । पढ़ना असलमें पढ़ाई करना है । और पढ़ाई कर चुकनेके बाद ज्ञान-वर्द्धनके या मानसिक विकास-के लिए कौन पढ़ता है ? दैनिक अख़बार तक तो ठीक है—संसारकी गति-विधिसे परिचित होना तरक्क़ीके लिए ज़रूरी है, और दैनिक अंग्रेज़ीका अच्छा होता है । उससे आगे—हाँ, तफ़रीहन् पढ़ा जा सकता है—मनो-रंजन तो आवश्यक है । नया कुछ, मनोहर कुछ, रसीला कुछ, सिगरेटके धुएँके साथ अगर सारी उलझनें और चिन्ताएँ फूँककर उड़ा दी जा सकें—स्वप्न-जीवनका कारवाँ क्षण-भरके लिए किसी हरी-भरी फुलवाड़ीमें जा टिके, किसी सरिताके किनारे जा लगे, चाहे वह हरियाली माया हो, सरिता मृग-जल हो···ऐसा कुछ हो तो अलबत्ता पढ़ा जा सकता है ।

यह पाठक भी आप नहीं हैं ।

लेकिन आप अब तक शायद सोचने लगे हों कि यह भी लल्लो-पत्तोका एक नया ढंग है । अमुक-अमुक आप नहीं हैं, अर्थात्—आप इससे अच्छे हैं ! और यह रेखा-चित्र भी कहाँ है—अभी तक तो दूसरी रेखाएँ मिटायी ही जा रही हैं । ठीक है, अब पाटी साफ़ हो गयी है ।

या कि केवल लगभग साफ़ है, क्योंकि एक और पाठकका चित्र अभी भी सामने आता है····

और यह पाठक पढ़ता ही नहीं । यों किताबें वह काफ़ी चाटता है, और भारी-भारी शब्द, नाम, फ़िकरे और आँकड़े हर वक़्त उसकी ज़बानसे फिसले पड़ते हैं । लेकिन वह पढ़ता नहीं, केवल पढ़ाता है । पढ़ता किसे है, यह कहना ज़रा मुश्किल है, क्योंकि उसने सारी दुनियाको अलग-अलग डिब्बोंमें बाँट रखा है—एक डिब्बेमें वे हैं जो कभी पढ़ ही नहीं सकते;

दूसरेमें वे हैं जिन्हें पढ़ाना व्यर्थ है; एकमें वे हैं जो पहले ही ग़लत पढ गये हैं और जिनकी विद्याको मिटाना है; और—एकमे वे है जो सकल-ज्ञान-विद्या-विशारद हैं और परम-गुण-निधान हैं। इस प्रकार यह पाठक केवल पढ़ाता है, और अपने-आपको ही पढ़ाता है, क्योंकि और किसे पढाये ?—और है ही कौन; मानव तो होता नहीं, केवल वर्गोंमे बँटी हुई मानवता होती है; शाश्वत कुछ नहीं है और सब कुछ गत्यात्मक है; और जो यह खोज कर गये हैं उन्होंने जो कुछ कह दिया है वह शाश्वत सत्य है और उसमें परिवर्त्तन लाना चाहना गुरुतर अपराध है।

यह पाठक भी—अगर आप अब तक मुझे दुर्मुंहा जनद्रोही करार देकर, चार-छः पन्नेके लेखका दस्ती बम फेंकनेके लिए तौलते हुए, अपने काग़ज़ी जनवादी मोर्चेपर सन्नद्ध नहीं हो गये है तो !—आप नहीं है।

[२]

तो आप कौन है ?

क्या आप सदाकांक्षी है ? सदाकांक्षी लोग ही नरककी सड़कोंके पत्थर कूटते है, क्योंकि वे केवल आकांक्षी होते है। उनकी आकांक्षाओंसे ही नरकके चौककी कुट्टिम भूमि तैयार होती है।

> **'अच्छे-बुरेका बोध मुझे है;**
> **लेकिन अच्छेको पहचानकर**
> **मैं बुरेके आगे झुक जाता हूँ**
> **क्योंकि मैं सदाकांक्षी हूँ :**
> **मेरे लिए स्वर्गकी आशा भला किस नरकमें होगी !'**

क्या आप पारखी है ?

पारखी ही साहित्य क्षेत्रमे कुकुरमुत्तोंकी बढती देखकर भी निश्चिन्त पडे रहते हैं, दाम्भिकोंका शासन सहते है; आज-कलके सस्ते मुलम्मेको या रासायनिक धातुको सोना होनेका दावा करने देते है—क्योंकि उन्हे क्या

चिन्ता, पारस-मणि तो उनके पास है ही, चाहे जिस धातुको सोना बना लेंगे !

क्या आप हिन्दीके हितैषी हैं ?

हिन्दीके हितैषियोंको बार-बार प्रणाम, जिनकी हितैषणा कुछ कम होती तो हिन्दीकी उन्नति कुछ अधिक हो पायी होती ! हितैषी-गण हिन्दी-की रक्षाके नामपर उसके चारों ओर ऐसी दीवार खड़ी करके बैठे हैं कि वह न हिल-डुल सके, न बढ़ सके, न साँस ले सके; और बाहरसे कुछ ग्रहण करनेकी तो बात ही दूर! विना रास्ता देखे चला नहीं जाता तो विना समीक्षाके साहित्य-निर्माण भी नहीं हो सकता; लेकिन हितैषियोंके कारण समीक्षा असम्भव हो रही है, क्योंकि जो 'सम' देखना चाहता है वह तो हिन्दी-द्वेषी है, विश्वास्य समर्थक नहीं है ! हमने गो-रक्षाके नामपर सारे भारतवर्षको एक विराट् पिंजरापोल बना डाला, जिसका गोधन सारे संसारमें निकृष्ट कोटिका है; क्या हम हिन्दी-रक्षाके नामपर अपने साहित्यको भी एक पिंजरापोल बना डालेंगे, जिसमें उत्पादक तो असंख्य होंगे, लेकिन सभी अधभूखे, अधमरे, निस्तेज; जिसकी प्रतिभा अनुर्वर होगी और उत्पादन उपहासास्पद (यद्यपि उसपर हँसनेकी अनुमति किसीको न होगी !)—और जिसमें हम साहित्य-नवनीतके बदले कारख़ानोंका 'विना हाथके स्पर्शसे' तैयार किया गया वनस्पति ही पानेको बाध्य होंगे ?

[३]

तो सुधी और सहृदय पाठक, मर्मज्ञ पाठक, मुझे आपसे कहना यह है कि आप देखिए और सोचिए कि आपको क्या करना चाहिए और आप क्या कर सकते हैं। यह काफ़ी नहीं है कि जब-जब हिन्दीका कोई अच्छा पत्र बन्द हो तब-तब आप दुःख प्रकट कर दें, और जब-जब कोई अच्छा लेखक मरे तो रोष कर लें कि अंग्रेज़ी समाचार-पत्रोंने यह समाचार चार दिन बाद और पृष्ठ ग्यारहके पाँचवें कालममें क्यों छापा। (और, हाँ

कवि-सम्मेलनोंमें जाकर हुल्लड़ कर आवें कि कवि गाकर क्यों नहीं पढ़ते !) आपका दायित्व इससे बड़ा है। हमारे साहित्यकी दुर्बलता और विपन्नता के आप उत्तरदायी हैं, जैसे कि उसकी पुष्टता और समृद्धिके आप विधायक हैं। आप ही नहीं, लेकिन आप भी। जब हिन्दी उपेक्षित और अपमानित थी, तब उसको इसलिए शक्ति मिलती थी कि वह विद्रोहीकी भाषा थी और अनवरत संघर्ष उसे माँजता था। अब उसे हमें माँजना है, नहीं तो वह मैली ही होगी। तूफ़ानमें नावको तैरते रखना ही सबसे बड़ा कर्त्तव्य होता है, लेकिन जब तूफ़ान नहीं होता तब केवल तैरनेसे ही नाव कहीं नहीं पहुँच जाती, उसे खेना होता है, और ठीक दिशामें खेना होता है, जिसके लिए नक़शोंकी आवश्यकता होती है, और दिग्दर्शकोंकी, और कर्णधारों और समर्थ मल्लाहोंकी····

इतनी ही मेरी बात है। स्वस्ति श्री सर्वोपमा जोग अमुकप्रमाद पाठकके जोग लिखी। मेरी चिट्ठी खुली चिट्ठी है, अतः उसमें जिसकी जो इच्छा हो पढ़ ले सकता है; पर इससे मेरी बातका अन्तस्तत्त्व—और उसकी चुनौती—सारहीन नहीं हो जाती। और जो पाठक उसे समझता है और ग्रहण करता है—अर्थात् उसके अनुसार कर्म करता है—वही 'स्वति श्री सर्वोपमा जोग' मेरा पाठक है, सुधी और सहृदय और मर्मज्ञ, और उसीके जोग लिखी। कम लिखी बहुत जानना। इति शुभम्।

●

सन्दर्भ : स्थिति

अर्थ और यथार्थ

उस दिन तीन-चार युवक कविगण मेरे यहाँ पधारे थे। आँगनके एक सिरेपर बैठे हम लोग इधर-उधरकी बात कर रहे थे—जैसी बातें ऐसे अवसरपर हुआ करती हैं। न-जाने कैसे बात खंजनोंपर आकर रुकी, और आगन्तुकोंमेसे एकने, जिनकी स्मरण-शक्ति अद्‌भुत है, इस छोटेसे पक्षीके विषयमें कई एक सवैये-कवित्त सुना डाले।

मेरे आँगनमें कुछ फूल-पौधे भी हैं। आस-पासके घरोंने अपने आँगनोंका ऐमा उपयोग व्यर्थ माना है, या इसके लिए जो थोड़ा बहुत श्रम करना पड़ता है उसे अपनी शानके खिलाफ़ समझा है, इसलिए एक-से कई घरोंकी पक्तिमें मेरा आँगन कुछ विशिष्ट हो गया है और वहाँ प्रायः ही पक्षी आते रहते है। जिस समय हम लोगोंकी बात-चीत हो रही थी, उस समय चंचल पक्षियोंका एक जोड़ा आँगनकी हरियालीमे इधर-उधर दौड़ रहा था—बीच-बीचमें रुककर घासमे कुछ टोहता और फिर पूँछ झुलाकर आगे बढ़ता हुआ।

मैंने सवैया सुनानेवाले बन्धुसे पूछा : "आपने खंजन देखे हैं ?"

उन्होंने कहा : "नहीं तो—वे तो पानीके किनारे होते है।"

मैंने आँगनकी ओर इशारा करके पूछा : "वह क्या है, आप पहचानते हैं ?"

"वह ? वह चिड़ियाका जोड़ा ? चिड़िया है, और क्या ?"

"कौन चिडिया ?"

"चिड़िया है—नाम-वाम तो हम नहीं जानते।"

मैंने बताया कि यही खंजन है तो उन्होंने समझा कि उन्हे बनाया जा रहा है। बड़ी कठिनतासे वह माने कि ये वास्तवमे खजन है, और शीत

ऋतुमें प्रायः दिल्लीमे देखे जाते है। पक्षियोंमें कौए, तोते, चील, बगुले, मोर—(और हाँ, 'चिड़िया' अर्थात् गौरैया)—इन चार-छः के बारेमें तो वह निश्चयपूर्वक कह सके कि उन्होंने देखे है, बाक़ी कुछ नाम उन्हे याद थे जो उन्होंने पढ़े है।

× × ×

और एक बार नगरके एक दूसरे भागमे एक लेखक बन्धुसे मिलने गया था। उन्हे जो सरकारी क्वार्टर मिला हुआ है, वह जिस सड़कपर है उसके दोनों ओर अर्जुन वृक्षोंकी पंक्तियाँ हैं। तीन-चार वर्षोंसे वह निरन्तर दिनमे दो-चार बार उनके नीचेसे गुजरते हैं। अर्जुनका वृक्ष मुझे सुन्दर लगता है, अतः उनसे भेंट होनेपर मैंने उनकी अपनी तरु-राजिकी प्रशंसा की। वह अचकचाकर बोले, "कौनसे पेड़—कहाँ? अर्जुन कैसा होता है?" ज्ञात हुआ कि वह उस मार्गसे आते-जाते तो है, पर पेड़ोंकी ओर उन्होंने कभी ध्यान नहीं दिया, नाम जाननेकी तो बात दूर। आम, नीम, जामुन, केला, ताड़, इन कुछ एक वृक्षोंके अलावा और कोई वृक्ष वह पहचान सकेंगे, ऐसा वह दावेके साथ नहीं कह सकते थे। पलाश? पलाश तो वह नहीं जानते, ढाकके पत्तोंकी पत्तलोंमे उन्होंने दावतें खायी है अतः पत्ता तो पहचान लेंगे····

× × ×

गोष्ठी-समाजोंमें जाना कम होता है, पर उस बार एकमे गया था जो सरकारी क्वार्टरमें हो रही थी—उसमें रहनेवाले सज्जन एक छोटी संस्थाके मन्त्री थे। 'जनताका साहित्य' विचारका विषय था। आरम्भमे चाय-पान था, उसके साथ वार्तालापमें मैंने अड़ोस-पड़ोसके क्वार्टरोंके बारेमें पूछा तो ज्ञात हुआ कि स्थिति वैसी ही है जैसी सरकारी क्वार्टरवासियोंकी होती है। किसमे कौन रहता है यह कोई नही बता सकता था; इस प्रकारकी सूचना मिलती थी कि 'मद्रासी है', या 'बनिये है', या 'अमुक दफ़्तर

या मिनिस्ट्रीमें हैं, नाम तो नहीं मालूम'। गोष्ठी आरम्भ हुई तो मुझसे भी पूछा गया कि क्या मैं जनताका साहित्य लिखता हूँ—क्या मेरी कृतियाँ 'मासेज़' के लिए हैं ? नहीं तो क्यों नहीं ?

× × ×

कवियोंका प्रकृति-पर्यवेक्षण गम्भीर होना चाहिए, या कि सामाजिक प्राणीके नाते लेखकको अपने प्रतिवेशीके सुख-दुःखमे प्रवेश करना चाहिए और उससे मानवीय रागात्मक सम्बन्ध रखना चाहिए—ये उपदेश पुराने है। ऊपरकी घटनाओंको ऐसी बातकी पुष्टिके लिए प्रस्तुत करना भी पुरानी बात है। दूसरी ओर, कालिदासने कहीं 'अयन' शब्दका प्रयोग किया है इससे प्रमाणित होता है उन्हे ज्योतिषका पूरा ज्ञान था, या कि बिहारीका 'राधा नागरि सोय' उनके आयुर्वेद-ज्ञानका प्रमाण है, या कि अमुक ग्रन्थमे अस्सी क़िस्मकी घासोंका नामोल्लेख है इससे लेखकके अगाध प्रकृति-ज्ञानका कुछ अनुमान हो सकता है, इस तरहकी युक्तियाँ भी बहुत सुनी जा चुकी है। मुझे जो कहना है वह भिन्न है।

और वह यह, कि इस प्रकारके उपदेश उन लोगोंके लिए व्यर्थ होते जिनके दृष्टान्त दिये गये है। और ऐसा इसलिए नहीं कि उन्हे ये अमान्य होते, बल्कि इसलिए कि वे इनसे पूर्णतया सहमत होते—सहमतिके बाद और बावजूद उनकी वह स्थिति होती, बल्कि थी, जिसका उल्लेख किया गया है।

मुझे यह उतनी शोचनीय बात नहीं जान पड़ती कि लेखकका प्रकृति-परिचय अधूरा हो, या कि उसके मानवीय सम्बन्धोंकी परिधि बहुत छोटी हो; मुझे यह बात ख़तरनाक जान पड़ती है कि 'प्रकृति', 'मानव', 'जनता', 'मासेज'—ये सब उसके लिए अनुभव-गोचर यथार्थ न रहकर मानसिक परिकल्पनाएँ, एबस्ट्रैक्ट विचार-तत्त्व बन जावें। पर्यवेक्षणका क्षेत्र बढ़ाया जा सकता है, अनुभवकी कमीको पूरा किया जा सकता है, पर अनुभव-

गम्य यथार्थसे कट जानेपर उससे फिर सम्बन्ध जोड़ना कहीं कठिन होता है, और परिश्रम-साध्य होता है, अपने-आप तो कभी जुड़ ही नहीं सकता। अनुभवकी कमी लेखकको केवल असमर्थ बनाती है, पर यथार्थका यह बौद्धिकीकरण उसे आततायी होनेका अतिरिक्त सामर्थ्य दे देती है। जो व्यक्ति पशु-पक्षी, तरु-लता-फूल-पत्ते, प्रकाश-छाया, रंग-रूप-गन्ध-ध्वनि-रस इत्यादिको तद्वत् नहीं पहचानता वह केवल अबोध है, केवल सोया हुआ है; लेकिन जो इनको न पहचानता हुआ 'प्रकृति-प्रेम' की बात करता है वह भरमानेवाला है—वह नशा करके सोया है। जो इस मनुष्य, उस मनुष्य, अनेक मनुष्योंको अलग-अलग जीवन्त और संवेदनशील इकाइयोंके रूपमें नहीं जानता और अपनाता वह मूढ है, किन्तु जो इसके बावजूद 'जनता' 'मानवता' 'मासेज़' आदिके नामपर आह्वान करता है वह वैसा मूढ है जिसके हाथमें आग है।

× × ×

मैं बार-बार सोचता हूँ कि हमारा साहित्य, हमारा सम्पूर्ण कला-कृतित्व, यथार्थके इस बौद्धिकीकरणसे आक्रान्त है। यथार्थको यथार्थवत् ग्रहण कर सकनेकी हमारी क्षमताको वह कुण्ठित कर रहा है।

यह ठीक है कि स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर बढ़ सकना विकासका लक्षण है। एक चीज़ और एक चीज़ और एक चीज़से बढ़कर संख्या 'एक' की प्राप्ति और उससे 'इकाई' का बोध, एक मानव और एक मानव और एक मानव की पहचानसे मानव-मात्रकी उपलब्धि और उससे 'मानवता' की परि-कल्पना—यों बढ़ना बुद्धिका धर्म है। किन्तु 'क'से 'ख' तक यों बढ़ना कि दोनों एक ही व्याममें आ जावें एक बात है, यों आगे निकल जाना कि 'ख'को पानेमें 'क' खो जाय दूसरी बात। चौमहला भवन बनाना एक बात है, चौथी मंज़िलपर पहुँच कर पहलीकी नींव खोदना दूसरी बात !

कृतिके लिए अनुभवकी सर्वोपरि महत्तापर आग्रह क्या मेरा दुराग्रह

या पूर्वग्रह मात्र है ? मेरी समझमें समय-समयपर इसकी आवश्यकता पड़ती रही है, और कलाके क्षेत्रमें यह आग्रह नाना रूपोंमें प्रकट हुआ है। सर्वत्र या सर्वदा उसमें एक-सा आत्म-बोध या आत्म-चेतना न रही हो यह अलग बात है। भक्ति-आन्दोलनमें अनुभूतिकी यथार्थताका एक प्रकारका आग्रह था, छायावादी आन्दोलनमे एक दूसरे प्रकारका, और— यदि समकालीन प्रवृत्तिके बारेमें एक अनात्यन्तिक स्थापना मुझे करने दी जावे—नयी कवितामें एक तीसरे प्रकारका आग्रह है। **'वास्तविक की वस्तुवादी धारदार विडम्बना'**के विरुद्ध, वास्तवके एतादृशत्वका आग्रह व्यर्थ नहीं है, निरे नयेपनका या वैशिष्ट्यका आग्रह नहीं है, वह सत्त्वकी सही और सिद्धिदायक पहचानका आग्रह है। मै तो यह भी कहना अनुचित नहीं समझता कि छायावादकी 'अनन्तकी प्यास' और नयी कविता का 'क्षणका दर्द' एक दूसरेसे इस अर्थमे दूर नहीं है कि दोनों मूलतः अनुभूतिकी प्राथमिकता और आत्यन्तिकतापर बल देना चाहते हैं। इसपर कोई कहना चाहे कि तब नयी कवितामे नया कुछ नहीं है, और अपनी बातके समर्थनमें मेरा साक्ष्य दे, तो मुझे आपत्ति नहीं। नयी कवितामें नया कुछ कभी नहीं हुआ—हो ही क्या सकता है ? केवल सन्दर्भ नया होता है, और वही नया अर्थ दे देता है। जो नये सन्दर्भको पहचाननेको तैयार है, वह अपने आप नया हो जाता है और उसमेंसे नया अर्थ बोलने लगता है···

•

लेखक और प्रकाशक

कुछ लेखक मुझसे शायद इस बातपर ईर्ष्या भी कर सकते हैं कि प्रकाशकके साथ मेरा पहला साक्षात्कार मेरी पहली रचनाको लेकर नहीं हुआ। लेकिन मैं इसको अपना दुर्भाग्य ही मानता हूँ। क्योंकि बादमे स्वय मुझे जो अनुभव हुए, और दूसरोके अनुभवोके जो प्रामाणिक वृत्तान्त मुझे मिले उनके आधारपर मैं कह सकता हूँ कि नये लेखक और प्रकाशकका संघर्ष लेखक-जीवनका एक बहुमूल्य अनुभव है, और इस सघर्षसे अछूते रह जाना बच जाना नही, बल्कि वंचित हो जाना है। शरीरपरके घाव जिस प्रकार सूरकी सूरमाईका परिचय देते है, और व्रणहीन शरीर वीरताको भी सन्देहास्पद बना देता है, उसी प्रकार किसी लेखकके कभी प्रकाशकसे चोट न खानेका अर्थ भी यह लिया जा सकता है कि वह वास्तवमे लेखनोपजीवी नही है—शौक़िया लिख-लिखा लेता है, निरा 'एमेच्योर' है। सच पूछिए तो मै भी आरम्भमें लेखन-जीवी नहीं था। मेरी पहली पुस्तक जब छपी तब मैं जेलमें सरकारकी मेहमाननिवाज़ीसे लाभ उठा रहा था; और दूसरी पुस्तक यद्यपि छपी मेरे जेलसे आ जानेके बाद, तथापि प्रकाशकसे उसकी लिखा-पढ़ी कुछ अनुग्रहशील सम्पादकोंकी मध्यस्थतासे पहले ही हो गयी थी। लेकिन इस प्रकार लेखक-जीवनकी मेरी दीक्षामें जो कमी रह गयी थी उसे बादके अनुभवोंने पूरा कर दिया। करेलेके नीम चढ़ा होनेमे फिर भी कोई क़सर रह गई होती, तो वह अपनी दो-एक पुस्तकोंका प्रकाशक स्वयं बनकर मैने पूरी कर ली!

अक्सर सुना जाता है कि लेखन और प्रकाशन अन्योन्याश्रित है: एकके विना दूसरेका कल्याण तो हो ही नहीं सकता, जीवन भी सम्भव नहीं है। यह कुछ वैसी ही बात है जैसी यह, कि विज्ञान प्रगतिका साधन

है। अणु-बम और उद्‌जन-बम वैज्ञानिक प्रगतिके सूचक है, निःसन्देह; लेकिन प्रगति किस दिशामें ? प्राणिशास्त्र और वनस्पति-शास्त्रमे परस्पर आश्रयके दो रूप बताये जाते हैं : एक जिसे 'सहजीविता' कह सकते है— जिसमें दो प्राणी या उद्‌भिज एक-दूसरेको जीवनकी सुविधा देते चलते है; दूसरी जिसे परोपजीविता कहा जाता है और जिसमे एक प्राणी या उद्-भिज दूसरेके सहारे जीता हुआ उसका प्राण-रस चूस लेता है और उसके विनाशका कारण बनता है। आदर्शोकी बात अलग है—आदर्शमे विज्ञान मूलतः कल्याणकारी है और प्रकाशन भी मूलतः कल्याणकारी है। लेकिन समकालीन वास्तविकता देखें तो मानना होगा कि प्रकाशन भी लोक-कल्याणसे उतना ही दूर है जितना कि विज्ञान।

वाल्मीकिके समय प्रकाशक नही थे। उससे रामायणकी कल्याणकारिता में कुछ कमी आयी हो ऐसा नही जाना गया। व्यास इस हदतक आधुनिक हो गये थे कि उन्होंने एक शीघ्रलिपिकको महाभारत बोलकर लिखा दिया था; लेकिन प्रकाशक तब भी नहीं थे। महाभारत-रूपी ज्ञान-महार्णव इस-लिए सूख गया हो, या उसके लेखककी उपजीविका मारी गयी हो, इतिहास में इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। प्रकाशक और लेखकका सम्बन्ध साँप और नेवलेका है, अथवा साँप और मेढकका अथवा साँप और छछूँदरका— इस बारेमें बहस हो सकती है; लेकिन सच मानिए कि हर हालतमें साँप प्रकाशक ही है ! बाक़ी यह लेखककी प्रतिभापर निर्भर है कि वह मेढककी तरह लील लिया जाता है, या कि छछूँदरकी तरह 'गीलै बनै न बनै बिनु गीलै' की स्थितिमें प्रकाशनके गलेमे अटका रहता है, या कि फिर न्योलेकी तरह उसपर हावी हो उठता है। लेकिन कोरी सिद्धान्त-चर्चा छोड़कर अपने अनुभवपर आवें।

अभी मै जेल हीमें था कि एक प्रकाशकने एक पुस्तककी पाण्डुलिपि देखनेको मँगायी थी। उसके बाद आज तक न तो वह पाण्डुलिपि देखनेको मिली, न उसका कुछ और पता लग सका। अब तो वह प्रकाशक महोदय

भी स्वनामधन्य हो गये हैं इसलिए उनके बारेमें अधिक कुछ कहना अशोभन होगा। और एक थे, जिन्हें पाण्डुलिपिके साथ एक संस्करणके काग़ज़के दाम भी दिये थे। तब तक इतना सीख लिया था कि पुस्तककी प्रतिलिपि ज़रूर अपने पास रखनी चाहिए, इसलिए पुस्तकका तो उद्धार हो सका; लेकिन वह रुपया उन्होंने किस हिसाबमें बराबर कर लिया, यह आज तक न जान पाया। एक ऐसे भी मिले जिन्हें पुस्तक उनकी ओरसे स्वयं छपाकर दी; यह सज्जन छपाईका हिसाब-विसाब तो क्या चुकाते, पुस्तक ही बेचकर खा गये। लेखकका दुर्भाग्य यह है कि वह जब ऐसे अनुभव सुनाता है,तो उसका स्वर भी अभियोक्ताका स्वर नहीं होता, क्योंकि सुननेवाले सब उसीको अभियुक्त ठहराते हैं—क्यों उसने ऐसी मूर्खता की ? बचपनमें कथा सुनी थी कि गुड़ एक बार भगवान्‌के पास फ़रियाद लेकर गया कि "भगवन्, मुझे बचाइये, जो मुझे देखता है खानेको दौड़ता है।" भगवान्‌जीने ज़रा मुसकराकर कहा, "भैया, तनिक दूर खड़े होकर बात करो"—क्योंकि गुड़को इतना निकट देखकर स्वयं उनका जी ललच आया था। कुछ वैसी ही दशा बेचारे लेखककी है।

जिन दिनों मैं लाहौरमें था उन दिनों, हमारे पड़ोसमें एक नया बैंक खुला था। मुझे तो बैंकसे काम ही क्या पड़ता, लेकिन एक मित्रने बताया कि उस बैंकमे जो कोई नया हिसाब खोलने जाता था उसकी बड़ी ख़ातिर होती थी। मैनेजिंग डायरेक्टर साहब स्वय उससे मिलते थे और उसे चाय पिलाते थे। लेकिन एक बार रुपया जमा करा कर जो व्यक्ति फिर रुपया निकलवाने आता उसको बिलकुल दूसरी ही स्थितिका सामना करना पड़ता। या तो मैनेजर या बड़े एकाण्टेण्ट साहबकी अनुपस्थितिके कारण चैक पास न हो सकता, या फिर चैक काटनेवालेके हस्ताक्षरोंमें कोई त्रुटि निकल आती, या कोई दूसरी अड़चन बता दी जाती। अब तो कड़े नियन्त्रणके कारण बैंकोंमें ऐसी हरकतें बहुत कम हो सकती हैं, लेकिन प्रकाशकोंके लिए यह बायें हाथका खेल है। आप अगर कुछ भी जाने हुए

लेखक हैं तो पाण्डुलिपि लेकर प्रकाशकके पास जाइये, आपकी ख़ातिर करके वह पाण्डुलिपि तो हथिया लेगा। अगर उसको आशा हो कि आप कापीराइट भी उसके नाम कर दे सकते है तब तो वह आपकी पत्नीके लिए साड़ी और बच्चोंके लिए खिलौनेसे लेकर अन्न-कष्टके समय देहरादून के बढ़िया बासमती चावल आपके घर पहुँचाने तक सभी तरहके उपचार कर सकता है। लेकिन एक बार अधिकार उसे दे दीज़िए—बस उसके बाद राह चलते आपको पहचान ले तो भी समझिए कि मुरव्वत दिखा रहा है!

या फिर दूसरा पैंतरा यह हो सकता है कि पाण्डुलिपिकी बात सुनकर ही आपको एहसानसे लाद दे। अगर आप नये लेखक़ हैं तब तो निश्चय मानिए कि उसका रवैया यही होगा। "अजी साहब, आज-कल **कौन** जनरल पुस्तकें छापनेका साहस कर सकता है? आज-कल तो आप जानते है सिर्फ़ रीडरें चलती हैं। हमने अमुककी पुस्तक छापी थी, पाँच प्रतियाँ भी नहीं बिकीं। और अमुककी पुस्तक—हम जानते थे कि उसकी एक भी प्रति नहीं बिकेगी, लेकिन बेचारेकी बुरी हालत थी—हमने सहानुभूतिवश छाप दी। आखिर प्रकाशक भी तो इनसान है!"

वैसे कुशल प्रकाशक इस पैंतरेकी परिधिके अन्दर भी कई तरहकी नफ़ासत दिखा सकता है। जैसे, "अच्छा अब आप आये हैं तो रख जाइये पाण्डुलिपि! मैं देखूँगा—" और फिर क्लर्कसे कह दे कि 'यह महाशय फिर आयें तो भीतर मत आने देना, या कोई बहाना बनाकर टाल देना।' या यह भी हो सकता है कि, "देखिए साहब, यह किताब छपने-छपानेकी तो है नहीं। लेकिन आपने परिश्रम किया है—यह लीजिए पचास रुपये ले जाइये—पुस्तकके राइट हमारे नाम लिख जाइए—हमारे पास पड़ी रहेगी—और नहीं तो यही समझ लीजियेगा कि हमारे पास अधिक सुरक्षित है!"

इसीका और भी परिष्कृत, और इसलिए और भी ख़तरनाक रूप

यह होता है कि "साहब, आप तो जानते है इस युगमें चीज़ नहीं बिकती, नाम बिकता है। चीज़ कितनी ही अच्छी हो, जब तक उसके साथ कोई बड़ा नाम न हो, कोई उसे पूछता ही नहीं। और बड़ा नाम हो तो उसके साथ चाहे जो कबाड़ जोड़ दीजिए चल जायेगा!" इसके बाद प्रकाशक अपने कथनकी पुष्टिमे ब्यौरेवार बता देता है कि किस-किस नेताके नामसे कौन-कौन-सी रद्दी पुस्तकें छपी या बिकीं या पुरस्कृत हुई है, और कौन-कौनसे महद्ग्रन्थ या तो पाण्डुलिपिके रूपमें ही दीमकों द्वारा खा लिये गये है या छपकर चाट-पकौड़ी या परचून लपेटनेके काममे आते रहे हैं—केवल इसलिए कि उनके लेखक पहले ख्यात-नाम नहीं थे।

इतना लेखकका हौसला पस्त करनेके लिए काफ़ी होना चाहिए। इसके बाद वह या तो अपने कागज़-पत्तर लपेटकर मुँह लटकाये चल देगा या फिर—जैसी कि प्रकाशक आशा कर रहा है—किंकर्त्तव्य भावसे उसी से पूछेगा, "तो फिर आप ही कुछ सलाह दीजिए न?"

प्रकाशकने तो यह भूमिका रची ही है सलाह देनेके लिए! वह कहता है: "आप तो साहित्यकार हैं, आदर्शके लिए लिखते है। नामका मोह आपको तो है नहीं। मेरी राय तो यही है कि आप ऐसी तरकीब कीजिए कि आपकी चीज़ भी लोगोंके सामने आ जाये और आपको कुछ लाभ भी हो जाये। असल चीज़ तो यही है कि उत्तम साहित्य अधिकसे अधिक लोगोंके सम्मुख आये, लेखकके नामसे क्या आता-जाता है? आख़िर पुराणों-उपनिषदोंके लेखकोंका किसे पता है?"

इस तरहकी थोड़ी और प्रभावोत्पादक बात-चीतके बाद वह उपाय यह बताता है कि लेखक पाण्डुलिपि उसे दे दे, वह किसी प्रसिद्ध व्यक्तिसे अच्छे पैसे दिलवा देगा और उसके नामसे पुस्तक छपवा देगा। इससे लेखकको पारिश्रमिक भी मिल जायेगा और उसकी पुस्तक भी प्रकाशमे आ जावेगी। उधर प्रसिद्ध व्यक्ति भी प्रसन्न और साथ-साथ थोड़ा और प्रसिद्ध हो जावेगा, और प्रकाशकको भी थोड़ा-सा लाभ हो जावेगा।

इस प्रकार सबको लाभ भी हो जावेगा और लोक-कल्याण भी—'बहुजन-हिताय, बहुजनसुखाय'के आदर्शका इससे अच्छा निर्वाह और क्या हो सकता है ?

इतनी बात तो प्रकाशक आसानीसे क़ह सकता है। लेखक उसे समव्यथी न मानेगा तो भी व्यवहार-कुशल यथार्थवादी तो मान ही लेगा। इससे आगे प्रकाशक यह बताना आवश्यक नहीं समझेगा कि वह 'प्रसिद्ध व्यक्ति' शायद किसी पाठ्यक्रम समितिका सदस्य भी है, या कि काग़ज़के कंट्रोलरका रिश्तेदार है, या सिमेंटके परमिट दिला सकता है। उसे साधकर प्रकाशक भविष्यमें अपना कौन-सा काम निकलवानेकी आशा कर रहा है, ऐसी घरेलू बातोंसे लेखकको क्या मतलब हो सकता है ?

या यह भी हो सकता है कि 'प्रसिद्ध व्यक्ति' और कोई न होकर प्रकाशककी पत्नी ही हो—या कि स्वयं प्रकाशक ही हो और पुस्तक उसीके नामसे छपनेकी बात हो रही हो। ऐसा अक्सर देखा गया है कि प्रकाशक एक प्रकाशकके रूपमे छोड़कर और हर रूपमें प्रसिद्ध होना चाहता है—चाहे आलोचकके, चाहे कविके, चाहे कवयित्रीके पतिके—या और नहीं तो कवयित्रीके पाणि-प्रार्थीके रूपमें ही सही ! वह भी न हो तो सम्पादकत्व तो कहीं गया नहीं है—जो पुस्तक प्रकाशक छाप रहा है उस पर सम्पादकके रूपमे अपना नाम तो वह दे ही सकता है !

प्रकाशकका—या प्रकाशक और लेखकके सम्बन्धका—यह चित्र एकांगी जान पड़ सकता है। क्या ऐसा असम्भव ही है कि प्रकाशक लेखकका हितैषी हो और सत्साहित्यके प्रणयन और प्रचारमें योग दे सके ? असम्भव तो नहीं है। विदेशोंमें इसके कई उदाहरण मिल जावेंगे। भारतमें भी कुछ निष्ठावान् प्रकाशक हुए हैं और अब भी हैं। ऐसे भी प्रकाशक हुए हैं, और हैं, जिन्हें लेखकोंने सुहृद्के रूपमें पाया है और जिनकी मैत्री भी दोनोके लिए आत्मिक तृप्तिका आधार बनी रही है। अपनी ही कहूँ :

मैंने अभी जितनी तरहके प्रकाशकोंका वर्णन किया है, सभीका निजी अनुभव मुझे है, लेकिन साथ ही ऐसे भी हैं जिनका मैं बन्धुवत् सम्मान करता हूँ। बल्कि यह कहूँ कि मेरे लिए वे सदैव पहले बन्धु रहे हैं और पीछे प्रकाशक। कह लीजिए कि वे बन्धु ही हैं जो कि प्रकाशनका काम भी करते हैं। अकृतज्ञ मैं नहीं होना चाहता--कोई भी लेखक अकृतज्ञ नहीं होता--लेकिन वस्तु-स्थितिसे आँखें मूँदना भी ठीक नहीं है। हिन्दीके अधिकतर प्रकाशक अभी अनपढ़ और संकीर्ण बुद्धिके हैं। जो अपवाद हैं, उन्हें बारम्बार नमस्कार !

●

जीवनका रस

समयकी दूरी सभी अनुभवोंको मीठा कर देती है, तात्कालिक परिस्थितिमें भले ही वे कितने ही तीखे और कटु हों। इसलिए आज यह कहना अनुचित न होगा कि जेलकी मेरी स्मृतियाँ मधुर ही मधुर है—उन अनुभवोंकी भी जो तब भी मीठे थे, और उनकी भी जो उस समय अपनी कटुताके कारण तिलमिला देते थे या आगकी एक लकीर-सी मनमें खींच देते थे। और शायद यह कहना भी ठीक होगा कि स्मृतियाँ—कमसे कम अधिकांश—कुछ धुँधली भी हो गयी हैं। और शायद यह धुंधलापन भी माधुर्यका एक तत्त्व होता है क्योंकि जो आज भी पूर्ववत् उज्ज्वल या गहरी हैं उन्हें ठीक मधुर कहना शायद अनुचित हो—शायद उतना ही अनुचित जितना उन्हें कटु कहना : गहराईका एक आयाम होता है जो अनुभूतिको कड़वी-मीठीकी परिधिसे परे ले जाता है....

× × ×

चार-सौ क़ैदियोंके लिए बनी हुई जेलमें भरे हुए अठारह सौ क़ैदियोंमेंसे एक जब देखता है कि उसके कुछ साथी भूख-हड़ताल करते है, छिपकर मेवा-बादाम खाते हैं और ग्लूकोज़का शरबत पीते हैं, और जेलका डाक्टर उन्हें सहानुभूति देकर भी परेशान है कि उनका वज़न घटनेकी बजाय बढ़ता ही जाता है, तब उसे हँसी भी आती है और ग्लानि भी होती हैं; आज स्मृतिमें दोनों ही मधुर हैं। नये क़ैदीको पुराने पकड़कर जेलकी धोबी-भट्ठी के सामने मन्दिर कहकर माथा टेकवाने ले जाते हैं—यह भी उसी कोटिका अनुभव है जिसके कालेज-जीवनमें 'फ़र्स्ट यिअर फ़ूल' की खिसियाहटके अनुभव। ऐसा ही है अफ़ीमका चोर-व्यापार करनेवाले एक एंग्लो-इंडियन

द्वारा विना जालके पेड़पर बैठी चिड़िया पकड़ना सिखाया जाना : दिल्ली जेलमें लाया जानेपर 'गोरा-बारक' में उसे साथी पाकर उससे कई अद्भुत बातें सीखी थीं जिनमें मुख्य यह थी। अहातेके आमके पेड़पर साँझको बुल-बुल आकर बसेरा करते थे और रातको हम मोमबत्तीके सहारे उन्हें खोजकर हाथसे पकड़ लेते थे—पहले मुझे विश्वास नहीं होता था कि ऐसा सम्भव है और शायद मुझसे सुनकर आपको भी न हो—लेकिन मैंने कई बुल-बुल ऐसे पकड़कर पाल लिये और उनकी बोलीने मेरे एकान्तमें एक अत्यन्त प्रीतिकर व्याघात डाल दिया····इसी प्रसंगमें यह भी याद आता है कि जेलके दारोग़ा आये और बुलबुल देखकर जल-भुनकर खाक हो गये, लेकिन नये क्रान्तिकारी बन्दीको यह कहनेका साहस भी न बटोर सके कि वह पक्षी न पालने देंगे—उस बन्दीने दो-तीन दिन पहले शिनाख़्तके लिए आये मुख़बिरको और उसका बचाव करनेके लिए बीचमे पड़े मजिस्ट्रेटको पीट दिया था। (बादमें स्वयं भी पिटा था—पर क़ैदीकी कौन आबरू जाती है, उधर कहीं दारोगाको चाँटा पड़ गया तो बस !) इसलिए दारोग़ासाहब खीस निपोरकर अपने बच्चोंके लिए बुलबुल माँग ले गये थे—पर अगली परेडपर फिर नये पक्षी वहाँ बैठे हुए थे—अन्ततोगत्वा मुझको ही दफ़्तर बुलाकर वहाँसे एक काल-कोठरीमें भेज दिया गया····

ऐसे हल्के-फुल्के अनुभव और भी हैं। किन्तु गहरे भी अनेक हैं, कुछ तो इतने गहरे कि अभी तक उनसे वह अलगाव नहीं स्थापित कर सका हूँ जो उन्हें साहित्यकी वस्तु बना दे : अभी तक वे मेरे ही अनुभव अधिक है। जिनसे तटस्थता पा सका हूँ, उनमेसे कुछ 'शेखर' में आ गये हैं—कुछ प्रकाशित दूसरे भागमें, कुछ अप्रकाशित तीसरेमें, कुछ शायद आपको स्मरण भी हों। कुछ कहानियोंमें भी आ गये हैं। बूढ़े बाबा मदनसिंह, फक्कड़ मोहसिन, फाँसी पानेवाला रामजी : ये सब नाम सच भी हैं, झूठ भी, क्योंकि अगर काल्पनिक नहीं हैं तो पात्रान्तरित हैं। यानी एक मदन-

सिंहसे भी मेरा परिचय हुआ था, एक मोहसिनसे भी, एक रामजीसे भी—पर मेरे परिचयके यथार्थ व्यक्ति और मेरी पुस्तकके पात्र अलग-अलग हैं। पात्रोंके साथ जो घटित हुआ वह वास्तवमें भी कहीं, किसीके साथ तो घटा, पर उस नामके व्यक्तिके साथ नहीं; और प्रायः सब कुछ एक ही व्यक्तिके साथ नहीं। साहित्य-रचनामें चयन भी है, सम्पुंजन भी, सघनीकरण भी : क्योंकि सागरके विस्तारको एक आलोक-वेष्टित बूँदके विकिरित आलोकके छोटेसे दायरेमें दिखा सकना ही रचनाका काम है, लेखकका वह गुण है जिसे 'दृष्टि' कहा जा सके। 'शेखर' की भूमिकामें और अन्यत्र मैंने कहा है कि दुःख वह दृष्टि देता है; पर ऐसा है तो दुःख किसी भी तीव्र अनुभूतिका नाम है—ऐसी अनुभूति जो संवेदनाको, चेतनाको, घनीभूत आलोक-रूप दे देती है····रचनाकारकी प्रतिभा ढाकेकी मलमलका पचास हाथका थान बुननेमें नहीं है, उसे अंगूठीमेंसे गुज़ार देनेमें ही है, यद्यपि शिल्पी होनेके नाते वही मलमल भी बुनता है और अंगूठी तो उसकी है ही। मेरे पास रचनाकार होनेके नाते क्या है, क्या नहीं है, यह कहना मेरा काम नहीं है; जो मेरा आदर्श है वह मैंने बता दिया।

पर आदर्शोंकी नहीं, घटनाओंकी ही बात कहूँ, जिसे आदर्शकी चलनी-मेंसे छाना जाता है।

एक हमारे मित्र थे जिन्होंने आरम्भमें हमारी बहुत सहायता की, सौहार्द स्थापित करनेके बाद हमें एक कैमरा भी चोरीसे ला दिया कि हम लोग अपने फ़ोटो खींचकर बाहर भेज दें क्योंकि क्या जाने क्या होनेवाला है, भावी इतिहासकारको सामग्री तो मिल जाय ! और इस सबमें उनका असली मक़सद क्या था ? कि सारे फ़ोटो पाकर एक सेट पुलिसको दे दें जिससे उसे शिनाख़्तके काममें सुविधा हो जाय और हमारे मित्रको इतनी तरक़्क़ी मिल जाय कि वह क़ैदी स्टोर-क्लर्कसे बढ़कर क़ैदी दफ़्तर-क्लर्क हो जावें। दफ़ा चार सौ बीसमें वह चार सालकी क़ैद काट रहे थे और अनेक सुविधाएँ प्राप्त रहनेपर भी उन्हें वह परिस्थिति खलती थी जिसमें

अपनी चार-सौ-बीसी प्रतिभाका कोई उपयोग वह न कर सकें। स्टोर क्लर्कीमें कुछ गुंजाइश तो थी, पर ऐसे पढ़े-लिखे प्रतिभाशाली ठगके लिए वह अयथेष्ट थी—दफ़्तरकी क्लर्कीमे तो अनेक सम्भावनाएँ भरी थीं! हमारे साथ उन्हें सफलता नहीं मिली क्योंकि हमने उन्हें बतानेसे पहले फ़ोटो लेकर फ़िल्म आदि सब अन्य साधनोंसे बाहर भेज दिये और तब कैमरा उन्हें लौटाया कि 'उससे कुछ काम नहीं हो सकता—बारकमें फ़ोटो लेना जोखमका काम है'। वह ऐसा खिसियाये कि घण्टे भर बाद ही हमारी तलाशी हो गयी—शायद उन्होंने सोचा हो कि फ़िल्म अभी जेलमें ही है! पर बेचारे तरक्क़ी पानेसे रह गये।

एक और घटना याद आती है: वह दूसरी कोटिकी है। उसपर हँसा भी जा सकता है, और उसे जुगुप्सा-जनक भी माना जा सकता है, पर मैं हँसता नहीं हूँ, न झिझकता हूँ: गहरी मानव अनुभूतिमें अपनी एक अक्षुण्ण, अभ्रंश्य पवित्रता होती है जिसे दर्शककी क्षुद्रताएँ छू नहीं सकतीं।

हमारे वार्डरोंमें, जो हथियार-बन्द अतिरिक्त पुलिससे बदलकर दिये गये सिपाही थे—एक युवक था जो गाता था। प्रायः ड्यूटीपर वह कोई तान छेड़ देता: उसका गला मीठा था और उसमें वह गुण पर्याप्त मात्रामे था जिसे 'सोज़' कहते हैं। हमारे बारकके साथ ही ज़नाना वार्डका पिछ-वाड़ा था और वार्डरकी दौड़ दोनोंके बीच होती थी। ज़नाना वार्डमें एक 'पगली' थी जिसकी चीख़-चिल्लाहट हम प्रायः सुनते थे—इसीसे हम उसे पगली जानते थे, यद्यपि यह भी हो सकता है कि वह केवल एक दबंग विद्रोहिणी नारी रही हो। जो हो, वार्डरका गाना सुनते ही वह शान्त हो जाती थी और कभी-कभी उत्तरमें गाने भी लगती थी।

हम लोग इस रोमांसका रस लेते थे। रस कहीं भी लिया जा सकता पर जेलमें दूसरोंके रोमांसमें कुछ अतिरिक्त दिलचस्पी हो जाना स्वाभाविक

है ! क्रमशः बात फैल गयी; अन्तमें वार्डरकी बदलीकी आज्ञा आ गयी। अपनी अन्तिम ड्यूटीपर, जब उसके जवाबमे वह स्त्री गाने लगी तो, उसने पुकार कर कहा : "अब क्या गाना--आज रुख़सत है।" इतना हम लोगों ने भी सुना, उसके बाद सन्नाटा-सा रहा और हमने बात ख़तम समझी। पर थोड़ी देर बाद बाहर गुल-गपाड़ा सुनकर हम लोग अहातेमें निकल आये। शोर ज़नाना बारकके भीतरसे आ रहा था; हमें उसकी बाहरी दीवार और ऊपर दो-एक रोशनदान दीखते थे और हम जो कुछ समझ सके वह इन्हींसे छनकर आनेवाले शोरसे, और जो देख सके उससे।

वह स्त्री भीतर न जाने कैसे रोशनदान तक चढ़ गयी थी और उसके सीखचे पकड़कर और एक टाँग भी उनमे अड़ाकर लटक रही थी। अपनी साड़ीको कदाचित् उसने कमन्दके काममें लगा दिया था। भीतर नीचे वार्डरानियाँ और दूसरी क़ैदिनें चिल्ला रही थीं, उसे उतारनेकी जुगत कर रही थीं। और वह मानो इन सबसे असम्पृक्त बाहरको देख रही थी। वार्डर नीचे था, स्त्रीने उसे आवाज़ दी, सीखचोंसे हाथ बाहर बढ़ाया पर वह पहुँचसे बहुत दूर था; फिर सहसा उसने झटकेसे अपनी चोली फाड़ कर बाहर गिरा दी, वार्डरने उसे उठा लिया और दोनों एक-टक एक-दूसरेको देखते रहे। तभी—भीतर शायद सीढ़ी मँगा ली गयी थी—स्त्रीको पीछे खींच लिया गया और शब्दसे हम पहचान सके कि उसे पेटियोंसे पीटा जा रहा है....

उसी रात वार्डरकी बदली हो गयी, दो-एक दिन बाद स्त्री भी कहीं भेज दी गयी—शायद उसे सज़ा हो गयी।

घटना इतनी ही है; और इसके बारेमें कुछ कहना न आसान है, न उचित; इतना ही कि मेरे निकट यह भी वैसी एक सोनेकी अँगूठी है जिसमेसे ग़ज़ों मलमल गुज़ारी जा सकती है—और उस मलमलसे बड़ा लम्बा-चौड़ा प्रपंच फैलाया जा सकता है। पर घटनामें निहित मानवीय भावनाका जो सत्य है उसका और कुछ नहीं किया जा सकता सिवा उसको चुप-चाप

स्वीकार करनेके। विज्ञानमें किसी वस्तुको हल्का करनेके लिए उसे विरल करते हैं और तब वह उड़ सकती है, पर मानवीय संवेदनामें उसकी सघनता ही उसे एक स्तरपर ले जाती है जब वह धरातलसे उठ कर एक दिव्य वस्तु हो जाती है।

मैंने कहा कि समयकी दूरीपर सभी कुछ मीठा है क्योंकि सभी कुछ धुँधला भी है—पर जो धुँधला नहीं है, उसे मीठा कहना उतना ही ठीक या बेठीक है जितना उसे कड़ुवा कहना। वह प्रोज्ज्वल है और इन छोटे रसोंसे परे है—जीवनका रस कड़ुवा-मीठा कुछ नहीं है, वह राम-रस है जिसमें सब रस समाये हैं।

●

कवि-कर्म : परिधि, माध्यम, मर्यादा*

नये और पुराने लेखक या कविकी तुलना करें तो एक उल्लेखनीय अन्तर हमें दीखता है। पुराने जमानेके कवि सिवा अपने कुल-परिचयके अपनी अधिक चर्चा नहीं करते थे। वह कुल-परिचय भी एक परम्पराका निर्वाह-सा होता था, और उसके अलावा शायद उसका एक कारण यह भी था कि उस कालके कवि मौखिक परम्परासे चलते थे और उसमें कृतिकार का नाम-पता बतानेका यह साधन हो सकता था कि उसे भी काव्यका अंग बना दिया जाये। किन्तु इस आधारपर जहाँ एक ओर हम मानते हैं कि प्राचीन कवि आजके कविसे अधिक शालीन और शीलवान् था क्योंकि आत्म-

---

*सागरकी साहित्यिक संस्था 'रचना'के आमन्त्रणपर संस्था द्वारा निश्चित विषय 'मैं और मेरी रचना' पर दिये गये भाषणका परिशोधित लिखित रूप। भाषणका अधिकांश संस्था द्वारा उसी समय फ़ीतेपर रेकार्ड कर लिया गया था, उसीसे प्रतिलेखन करके इसका मूल रूप प्रस्तुत किया जा सका। जैसा कि भाषणमें स्पष्ट कहा गया था, निर्धारित विषयके अधीन सीधे-सीधे अपनी या अपने लेखनकी चर्चा न करके उस पृष्ठ-भूमि अथवा सन्दर्भकी चर्चा ही वक्ताको अभीष्ट थी जिसमें वह रहा है अथवा लिखता रहा है।

भाषणके अन्तमें कुछ प्रश्न भी पूछे गये थे। जिनकी तात्कालिकसे अधिक कुछ उपयोगिता जान पड़ी, उन्हें भाषणके लिखित रूपमें समाविष्ट कर लिया गया है।

चर्चा कम करता था, वहाँ दूसरी ओर हम प्राचीन साहित्यमे इतनी और ऐसी गर्वोक्तियाँ भी पाते हैं जिनकी आजका कवि कल्पना भी नही कर सकता—कितना भी अहम्मन्य होकर भी वह अपने विषयमें वैसे दावे नहीं कर सकता।

इस अन्तरका एक समाधान तो यह है कि प्रत्येक कालमें कवि मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे अपनी क्षतिपूर्ति कर लेता है। कृतिकार एक दिशामे अपनेको संकुचित करता है तो दूसरी दिशामे अपनेको फैला लेता है। प्राचीन कालके कविका आत्म-संकोच और आत्म-विस्तार एक प्रकारका था; आजका कवि दूसरे ढंगसे अपनेको संकुचित करता है तो आत्म-तुष्टि अथवा अहं-पुष्टिके दूसरे मार्ग अपना लेता है।

निस्सन्देह यह मनोवैज्ञानिक निदान भी अपना मूल्य रखता है। पर मेरी समझमे प्राचीन और आधुनिक कविकी परिस्थितिमें एक बहुत बड़ा अन्तर है। परिस्थितिके इस भेदको, और कवि-कर्मपर उसके प्रभावको समझना बहुत ज़रूरी है।

मैं यह कहना चाहता हूँ कि कवि-कर्म कभी किसी युगमें इतना कठिन नहीं रहा जितना वह आज है—नये कवियोंकी आये-दिन नयी बाढके बावजूद। ऐसा क्यों? इसलिए कि कवि कभी किसी युगमें अपने पाठकसे, अपने ग्राहकसे [ग्राहक अर्थात् गृहीता, गाहक नहीं] इतनी दूर नहीं रहा जितना वह आज है—या तो सचमुच इतनी दूर नहीं रहा जितना वह है, या दूरीका इतना तीव्र अनुभव नहीं करता रहा जितना आज करता है। सम्भव है कि वह वास्तवमें उतना दूर न हो, कि उसे केवल दूरीका बोध हो और वह बोध अतिरंजित हो या निरा भ्रम हो। लेकिन यह तथ्य है कि आजका लेखक यह महसूस करता है कि वह अपने पाठकसे अपेक्षया दूर है, या दूर होता जा रहा है, या कुछ देर बाद दूर हो जायेगा····यह अनाश्वस्त अवस्था आजके कविकी विशेष परिस्थिति है। उसमें एक आशंका, एमेर्जेसी अथवा आसन्न संकटकी एक भावना निरन्तर रहती है और इसका

गहरा प्रभाव उसके लेखनपर पड़ता है। हमे न केवल इस परिस्थितिको ध्यानमें रखना चाहिए वरन् उसके कारणोंपर भी विचार करना चाहिए।

क्षेत्र-विस्तार और परिधि-संकोच

स्थितिके कारणोंके विश्लेषणमें मेरी रायमे सबसे पहला स्थान साहित्य-क्षेत्रके रूप-परिवर्त्तनको देना चाहिए। ऊपर मैंने जिस क्षतिपूर्तिकी बात कही है, वैसा ही कुछ सन्तुलन साहित्य-क्षेत्रमे भी दीख सकता है और इस लिए एक-साथ ही दो परस्पर-विरोधी जान पड़ने वाली बातें भी कही जा सकती हैं—एक तो यह, कि साहित्यका क्षेत्र विस्तृत हो गया है; और दूसरी यह, कि उसकी परिधि सकुचित हो गयी है। किन्तु अपने-अपने ढंगसे दोनों सही हैं, और आजके कृतिकारकी स्थितिके निरूपणके लिए दोनों प्रकारकी प्रक्रियाको समझना आवश्यक है।

पहले क्षेत्र-विस्तारकी प्रक्रियाको लें। पुराने जमानेके कवि या तो जन-कवि होते थे, या राज-कवि होते थे। जनसे अर्थ आधुनिक राजनीतिक जन अथवा 'मासेज़' नहीं है, लोक अथवा फ़ोक है। जन-कवि अनाम अथवा अज्ञात-नाम होता है; जन-काव्य इस अर्थमें 'स्वयम्भू' होता है कि उसकी रचनाको देश-कालके किसी एक बिन्दुके साथ नहीं बाँधा जा सकता। असम्भव नहीं कि प्राचीन-कालमें नामके विषयमे जो दोहरी प्रवृत्ति हम पाते हैं उसका वास्तविक समाधान यही हो कि वे दो अलग-अलग काव्यों की प्रवृत्तियाँ है—नामाग्रही प्रतिभा-गर्वित राज-कवि और अज्ञात-कुलशील, नाम-हीन जन-कवि जिसकी रचना यदि शिक्षित वर्गमें पहुँच कर आदृत हुई भी तो 'कस्यचित्कवेः' होकर ही सुभाषित-भाण्डागारोंमें भर ली गयी····जो हो, प्राचीन कालमे ऐसा शायद कोई नहीं हुआ जिसने जन-कवि और राज-कवि दोनों नाम या दोनोंके उत्तरदायित्व निबाहे हों। न उस कालके समीक्षक अथवा पाठकने—और न ही आजके समीक्षकने—

उनसे यह माँग की कि वे अनिवार्यतया यह दोहरी माँग पूरी करें। किन्तु आज परिस्थिति यह है कि हम कविसे चाहते हैं कि वह एक साथ ही जन-कवि भी हो और राज-कवि भी हो। और आज इस बढ़ी हुई माँगने उग्रतर राजनीतिक रूप भी लिया है जिसके अनुसार इन शब्दोंके अर्थ बदल गये हैं और माँग न केवल बढ़ गयी है बल्कि कहीं अधिक कड़ी भी हो गयी है। इसलिए जन-कवि न कह कर जनता-कवि, और राज-कवि न कह कर राज्य-कवि कहना कदाचित् अधिक उचित हो। जन अब लोक न रह कर जनता है, और राज्योंकी बढ़ती हुई शक्तिने राज-सत्ताका रूप भी बदल दिया है। फलतः आज एक ओर यह आग्रह है कि कवि अथवा साहित्यकारको जन अथवा जनताका होना चाहिए और दूसरी ओर यह भी है कि राज्यके प्रति उसके जो कर्त्तव्य हैं उनका निर्वाह होना चाहिए, क्योंकि राज्य भी जन-राज्य है। इस दोहरी आशासे कहीं-कहीं तो बलात् कोशिश की जाती है कि कविको ठोक-पीट कर जन-कवि, या राज्यका कवि, या एक-साथ ही जन-कवि और राज्य-कवि, बनाया जावे। इसका परिणाम यह होता है कि कवि न तो जनका रहता है और न राज्यका। वह जन-चारण या राज्य-चारण हो जाता है—या एक-साथ ही जन-चारण और राज्य-चारण। यह समस्या, हो सकता है कि हमारे देशमें ऐसी तात्कालिक न हो, केवल दूरकी सम्भावना हो। क्योंकि यहाँ बलात् नियमनका ख़तरा, कमसे कम अभी, नहीं है। पर कुल मिला कर आजके साहित्यकी परि-स्थितिमें ऐसी प्रवृत्ति बढ़ती ही जा रही है, और हमारे देशकी प्रगति भी इसका अपवाद नहीं है, यह मानना होगा।

स्थितिका और भी अद्भुत पहलू यह है आजका कवि स्वयं यह मान लेता है कि उसको जन-कवि या राज्य-कवि होना है। ऐसे लेखक क्रमशः कम होते जा रहे हैं जो यह कहें कि साहित्यकारका उत्तरदायित्व सबसे पहले अपने प्रति है, दूसरोंके प्रति बादमें है या परिणामतः है। आजकी परिस्थितिमें ऐसा कहना सफलताका नुस्खा नहीं है; इस लिए इस बातको

कहनेकी आवश्यकता बहुत कम लोग मानते हैं—वे भी नहीं, जो मन ही मन इसे सही मानते होंगे।

विस्तारका एक पक्ष और भी है। हमारे समाज-जीवनमें जनका महत्त्व क्रमशः बढ़ता गया है। पुराना जो समाज-संगठन था, उन्नतिके साथ-साथ उसमें साधारण जनका स्थान ऊँचा उठता गया है। कलाओंमें और संस्कृतिमें उसे अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है, और उचित ही दिया जाने लगा है—मैं मानता हूँ कि यह औचित्य निरी अनिवार्यतासे गुरुतर और दृढ़तर आधारपर टिका है। किन्तु इसका एक अप्रत्यक्ष प्रभाव साहित्यिक प्रतिमानों या मूल्योंपर भी हुआ है। जन या लोक नामकी समष्टिमे लोगों या अंगोंकी संस्कारिताके कई अलग-अलग स्तर हैं, कुछ अधिक संस्कृत हैं, कुछ कम, कुछ और भी कम; कुछ पढ़े-लिखे हैं, कुछ साक्षर हैं, कुछ साक्षरसे भी ज़रा नीचे ही—पर इन सबका एक-सा दावा कलाओंपर, संस्कृतिपर और साहित्यपर हो गया है। और अब यह नहीं कहा जाता, और प्रायः माना भी नहीं जाता, कि यह दावा बिल्कुल निराधार है। समान सुविधा और समान पैठको पर्यायवाची ही मान लिया जाता है—न भी माना जाता हो तो इनके अन्तरपर बल तो नहीं दिया जाता। किसी समय भरत यह बता सकते थे कि समाजमें बैठने और काव्य-रस ग्रहण करनेका कौन अधिकारी होता है, उन न्यूनतम गुणोंकी तालिका बना सकते थे जो काव्य-रसिकके लिए अनिवार्य माने जाते थे। वह परिस्थिति अब नहीं रही। आज यह प्रश्न उठाना, कि आप काव्य सुनने या साहित्य पढ़नेके अधिकारी भी हैं या नहीं इसकी परीक्षा होनी चाहिए, साधारणतया अनधिकार-चर्चा मानी जावेगी। कोई साक्षर है तो वह पढ़नेका अधिकारी है ही, ऐसा मान लिया जाता है। और न केवल पाठक ऐसा मानता है जो ऐसा मानकर एक अधिकार अपने ऊपर ओढ़ ले सकता है, बल्कि लेखक भी ऐसा मान लेते हैं जो इस प्रकार अधिकार नहीं, केवल उत्तरदायित्व ओढ़ते हैं। हम चाहें तो इसे नयी लोकतन्त्रवादी अथवा मानवता-

वादी प्रवृत्तिका एक पहलू मान ले सकते हैं कि ग्राहक (और समीक्षक) के जिस कम-से-कम संस्कारकी माँग पहले की जाती थी, आज उसपर बहुत कम ध्यान दिया जाता है; आज कविसे ही अधिक माँग की जाती है। पाठक से नहीं कहा जाता कि वह काव्य सुनने या पढ़नेका पात्र बने; लेखकसे कहा जाता है कि वही जो नहीं भी सुनना चाहता है उसको भी सुना सकनेका अधिकारी बने—कि वही अपने काव्यको ऐसा बनाये कि जो नहीं सुनता है, जो सुननेके योग्य नहीं है, वह भी सुने—क्योंकि उसको योग्य बनानेमें लेखकका भी कुछ कर्त्तव्य है····

यहाँ मैं कोष्ठकोंमें—अथवा स्वगत—यह कह देना चाह सकता हूँ कि लेखकके दायित्वके रूप-परिवर्तनकी इस क्रियामे मैं एक सन्धि-स्थलका लेखक हूँ : जहाँपर राज-सन्दर्भसे विद्रोहके द्वारा मुक्ति मिल गयी है, पर जन-सन्दर्भकी रूढ़िने दासत्व-शृंखला-सा जकड़ नहीं लिया है। पर मैं अपनेको जैसे या जहाँ देखता हूँ, आवश्यक नहीं है कि इतिहास भी वैसे या वहीं देखे; अपनी स्थितिका मेरा यह निरूपण तथ्यका नहीं, उद्देश्य या आशाका ही प्रतिचित्र हो सकता है।

× × ×

अभी तक साहित्यके क्षेत्र-विस्तारकी बात होती रही है। अब उस विरोधाभासकी चर्चा प्रासंगिक होगी जिसका संकेत ऊपर किया जा चुका है। साहित्यके क्षेत्र-विस्तारके साथ-साथ कवि-कृतिकारकी परिधिमें संकोच भी होता गया है। यह परिधि-संकोच उसने स्वेच्छया नहीं किया : उसकी लाचारीसे ही हुआ है। उसने यह अनुभव किया है कि वर्तमान स्थितिमें कोई भी कवि ऐसा कुछ नहीं कर सकता है जिसे सब समान रूपसे समझ सकें, और वह समान रूप ठीक वही हो जो कवि समझाना चाहता है। तब उसके सामने यह विकल्प होता है कि या तो वह उतना ही, वैसा ही, वैसे ही कहे जितना, जैसा और जैसे सब लोग समझ सकें, और जिसे वह

अपना महत्त्वपूर्ण कथ्य मानता है, उसे छोड़ दे या स्थगित कर दे; या फिर उसे जो कहना है, जो उसे महत्त्वपूर्ण मालूम होता है, उसीको कहे— जितने भी लोग उसे समझें और ग्रहण करें उन्हींके लिए कहे, और आगे यह आशा करे कि उन समझनेवालोंके सहयोग या उनकी मध्यस्थतासे दूसरे भी समझेंगे।

मै कहूँ कि मैं उन अल्पसंख्यकोंमें से हूँ जो कि दूसरा विकल्प अपनाते हैं, और मानते हैं कि वही उचित है। जो मुझे कहनेके योग्य जान पड़ा है, उसे मैं न कहूँ ऐसी स्थितिमें मैने भरसक अपनेको नहीं डाला है। उसको कम ही लोग समझेंगे इसलिए उससे इतर कुछ कहूँ या उसमें पानी मिलाकर उसे वितरित करूँ, यह प्रयत्न मैने भरसक नहीं किया है। जो मुझे नहीं कहना है, जो मेरे निकट अयोग्य, अनुपयुक्त, असार, असुन्दर, असत् या असत्य है, वह कहनेकी विवशता या प्रलोभनमें पड़ूँ, इससे मैं भरसक बचा हूँ। मैं जानता हूँ कि मैने इससे भिन्न मार्ग अपनाया होता तो एक अर्थमें कहीं अधिक 'सफल' हुआ होता। उस सफलताके न मिलने का मुझे दुःख नहीं है, क्योंकि वह मेरी अभीष्ट ही नहीं थी। मैं यह भी जानता हूँ कि अन्य अनेक प्रकारकी युक्तियोंके अलावा जनके नामपर भी मेरी इस—इसे चाहें तो प्रवृत्ति कह लीजिए, चाहे आदर्श, चाहे हठ, चाहे साधना–का विरोध हुआ है। ऐसा विरोध भी परिस्थितिकी एक देन है और मुझे उसे ग्रहण करना चाहिए, यह मैंने माना है। अपने सन्तोषके लिए जनवादके पैग़म्बरका सन्दर्भ भी मेरे पास रहा है : लेनिनका ही कहना था कि अधिक लोगोंकी समझमें आ सके इस लोभसे सही बातको सस्ता–वलगराइज़–नहीं करना चाहिए : एक बार समझ न आनेपर दस बार उसकी आवृत्ति कर, पर कहें सही बात। 'आन्दोलनका निचोड़ है आवृत्ति'। लेखकके नाते मैं कहाँ तक अपनी बातकी आवृत्ति कर सकता हूँ, या कहाँ तक आवृत्ति—जो राजनीतिक आन्दोलनका अंग है, राजनीतिक कर्मीका कर्तव्य है—साहित्यका अंग हो सकती है, यह मेरे लिए चिन्त्य हो

सकता है, पर इसे मैं निःसंशय भावसे जानता हूँ कि सचको लोकप्रिय बनानेके लिए उसे वल्गराइज़ नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसीमें वह झूठ हो जाता है। एक तरहसे मै यह भी समझता हूँ कि मेरा यह विश्वास, मेरे आजके और भविष्यके पाठकमें मेरी आलोचकसे अधिक श्रद्धा और सम्मानका चिह्न है। क्योंकि मैं मानता हूँ कि जो आज नहीं भी समझा है वह कल समझेगा : और यह आवश्यक नहीं समझता हूँ कि मैं आज ही ऐसा मान लूँ कि जो आज मेरी बात नहीं समझता है वह कल भी नहीं समझेगा, और इसलिए मैं आज ही अपनी बात घटिया ढंगसे कहूँ—या बात ही घटिया कहूँ।

जिस परिधि-संकोचकी बात मैंने कही है, यह नहीं है कि उसके भीतर अपने लेखन-कर्मकी कठिनाईका मैंने अनुभव नहीं किया है, या कि तीव्र मानसिक सन्ताप और सघर्षके क्षण मैंने नहीं जाने हैं। पर कला यदि सत्यकी उपलब्धिका या उसके सूचनका एक साधन या माध्यम है, और कलाकार यदि उसकी इस माध्यमिकताकी रक्षाका अपना कर्त्तव्य न भूले, तो उसकी समस्या हल होकर ही रहेगी और इसी निष्ठाके सहारे उसका पथ विशद हो जावेगा, ऐसी मेरी श्रद्धा है।

माध्यमकी मर्यादा

दो-एक बातें मैं साहित्यके माध्यम अर्थात् भाषाके विषयमें कहना चाहता हूँ : वह भी हिन्दीके विधिवत् शिक्षित विद्यार्थीके, या अधीत पाठकके भी नाते नहीं, लेखकके नाते।

मुझे एक लेखककी हैसियतसे यह बात कहनेकी जान पड़ती है—विश्वविद्यालयोंमें जो पढ़ाया जाता है यह उसके सर्वथा विपरीत है—कि विभिन्न कलाओंके जितने भी माध्यम हैं, भाषाका माध्यम उनमें सबसे अधिक कृत्रिम है। संगीतके सुर होते हैं, उनका अपना एक मूल्य होता है जो

गायकीमें उनके उपयोगसे स्वतन्त्र है। सुरका उपयोग या दुरुपयोग उसके आत्यन्तिक मूल्यको नहीं बदलता। इसी प्रकार चित्रकलाके रंग या मूर्तिकारके मिट्टी-पत्थर, रत्न-धातु आदि अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और सत्ता रखते हैं। किन्तु भाषा एक ऐसा माध्यम है जिसमें आत्यन्तिक या स्वतन्त्र अस्तित्व रखनेवाला कुछ भी नहीं है। शब्दका आत्यन्तिक या अपौरुषेय अर्थ नहीं है : अर्थ वही और उतना ही है जितना हम उसे देते हैं बल्कि देनेकी प्रतिज्ञा कर लेते है। दूसरे शब्दोंमें, ('दूसरे शब्दोंमे कहना' ही अर्थका आरोप करना है!) शब्दका अर्थ एक सर्वथा मानवीय आविष्कार है, तो एक समय है; जितने अर्थ है सभा तदर्थ है। हमने मान लिया है कि अमुक एक शब्द-सकेतका अर्थ अमुक है, उससे भिन्न कुछ मान लेते तो दूसरा हो जाता। इतना ही नहीं, हमने जो मान लिया है, उसपर भी बराबर क़ायम नहीं रहते; अर्थ थोड़ा उन्नीस-बीस होता ही रहता है और फिर ये ऊनार्थ और अध्यर्थ शब्दका सस्कार या इतिहास बनकर उसमें एक और नया अर्थ जोड़ देते हैं। इस दृष्टिसे भाषा, कलाके माध्यमोंमें सबसे कमज़ोर है।

इसका यह अभिप्राय न समझा जाय कि जो पढाया जाता है उसे मैं बिल्कुल अमान्य कर रहा हूँ। यह बात भो नितान्त भ्रमपूर्ण नहीं है कि अन्य कलाएँ स्थूल अथवा मूर्त्त साधनोंपर निर्भर करती हैं इसलिए संगीत और काव्य, जिनके साधन सूक्ष्म और अमूर्त हैं, उच्चतर कोटिके है। (यद्यपि इतने हीसे इन दोनोंका पद-निर्णय अन्तिम रूपसे नहीं हो जाता—दोनोंकी उच्चताके समर्थनके लिए युक्तियाँ दी जा सकती है। सगीत शुद्ध स्वरपर निर्भर है, पर काव्य शब्दमे अर्थकी अपेक्षा रखता है, इसी एक युक्तिको दोनोंके समर्थनमे लगाया जा सकता है।) किन्तु जहाँ तक काव्यका प्रश्न है, इस बातका महत्त्व समझना आवश्यक है कि उसका माध्यम सर्वथा मानवीय है। भाषा सबसे कमजोर साधन है, इसका यह अर्थ नहीं है कि काव्य सबसे कमज़ोर कला है। बल्कि जिस स्तरपर संगीत

अपने सूक्ष्म साधनमें अर्थकी अपेक्षासे मुक्त हो जाता है और एक आत्यन्तिक मूल्य—स्वर—पर आधारित होता है, काव्य उस स्तरपर भी ऐसा कोई आधार न लेकर मानव-प्रदत्त अर्थकी अपेक्षा किये रहता है, मेरी दृष्टिमें यही उसकी महत्ता है—यह इतना बड़ा उत्तरदायित्व ही उसकी शक्तिका उद्गम है। कहीं, कभी, किसी स्तरपर भी काव्य-कला मानवेतर या मानवापर कुछका सहारा नहीं लेती है या चाहती है, यही उसका सारभूत सत्य, उसका स्वभाव या शील है। मुझे यह बात विशेष रूपसे कहनेकी जान पड़ती है। लेखकके लिए तो इसका सर्वोपरि महत्त्व है कि वह अपने माध्यमकी शक्ति और मर्यादाको समझे। शिक्षा-पद्धतिमें भाषाके इस पहलूकी उपेक्षा, और मूल्यांकनके लिए इससे होने वाली सैद्धान्तिक उपलब्धियाँ, इसका महत्त्व और बढ़ा देती हैं।

अपनी इस दुर्बलता या विशेषताके—विशेषतासे उत्पन्न दुर्बलताके—कारण भाषा कला-साधनोंमे ऐसी है जिसका सबसे अधिक आसानीसे दुरुपयोग किया जा सकता है। भाषाकी शक्तिका आज जितना दुरुपयोग दुनियामें होता है, मेरी समझमें उतना किसी युगमें न हुआ होगा। और आज जब शब्दको जन तक पहुँचानेके साधन—रेडियो, माइक्रोफ़ोन और लाउडस्पीकर इत्यादि—इतने विकसित हो गये हैं, शब्दको दूर-दूर तक पहुँचाया जा सकता है और अविराम दुहराया जा सकता है—यानी जब शब्दके उपयोगकी सम्भावनाएँ बहुत बढ़ गयी हैं—तब उसके दुरुपयोगकी सम्भावनाएँ भी उसी अनुपातमें बढ़ी है····इस खतरेको देखना और इसके प्रति सतर्क होना मैं आजके लेखकका कर्त्तव्य समझता हूँ। और मुझे कभी-कभी यह देखकर क्लेश और दुःख होता है कि भाषाका ठीक उत्तरदायी ढंगसे उपयोग करने वाले लेखक हिन्दुस्तानमें और हिन्दीमें दिन-दिन कम होते जा रहे हैं।

लेखकके नाते अपने माध्यमको मैं इसी सन्दर्भमें देखता हूँ। मैं हिन्दी भाषा लिखता हूँ। बहुत-से लोग ऐसा मानते हैं कि मेरी मातृभाषा हिन्दी

नहीं है। मेरे पूर्वज पंजाबके रहने वाले थे और मेरे माता-पिता आपसमें अधिकतर पंजाबी ही बोलते थे। मैंने सबसे पहली भाषा हिन्दी ही सीखी। यों मेरा जन्म भी हिन्दीकी एक बोलीके प्रदेशमें हुआ और बोलना सीखनेकी आयुके तीन-चार वर्ष मैंने हिन्दीकी ही एक दूसरी बोलीके प्रदेशमें विताये। जिन आलोचकोंको ये तथ्य ज्ञात है, उनमेंसे कुछको मेरी भाषामें 'पूर्वी प्रभाव' मिलते हैं, कुछको 'पंजाबी प्रयोग'। कम-से-कम एक बार तो ऐसा भी हुआ है कि एक ही विद्वान्को, पहले कुल-परिचयके कारण केवल पंजाबी प्रभाव दीखे और अनन्तर जन्म-स्थानकी सूचना मिलनेपर केवल पूर्वी प्रभाव !

कौनसे, या कौन-कौनसे प्रभाव मेरी भाषासे लक्षित होते हैं, मैं नहीं जानता; उपर्युक्त दोनों भी हो सकते हैं। और सम्भव है कि अन्य प्रभाव भी हों, और हों तो उसमें कुछ अनौचित्य भी मुझे नहीं दीखता। इतना ही कहूँ कि अपनी विशेष परिस्थितियों के कारण मैंने हिन्दीको कुछ अधिक उत्तरदायी ढंगसे ग्रहण किया—आप चाहें तो यों कह लीजिए कि वैसा मुझे करना पड़ा। मातृ-भाषा मानकर उसकी जितनी अवज्ञा की जा सकती थी, वह मैंने नहीं की। भाषा मान कर उसे पढ़कर, समझकर, सही संस्कारी ढंगसे उसका संयत और नियन्त्रित उपयोग करके जो किया जा सकता है, भरसक वही मैं करता रहा।

जीवनकी विशेष परिस्थितियोंने सुविधाएँ भी मुझे दीं, कठिनाइयोंमें भी मुझे डाला। इनमें एक यह भी थी कि किसी भी मातृ-भाषा या बोलीसे मेरा घनिष्ट सम्पर्क नहीं रहा। आरम्भिक बचपनके बाद अधिकतर हिन्दी प्रदेशके बाहर ही रहता रहा, और वह भी लगातार किसी एक भाषाके प्रदेशमें नहीं। इसलिए जिसे वास्तवमें जन-भाषा या मातृ-भाषा कहा जा सके ऐसी किसी भी भाषासे मेरा सम्बन्ध न हुआ—या कि इतनी भाषाओं से हुआ कि उसका उल्लेख अनावश्यक हो गया। पर इससे यह लाभ भी मुझे हुआ कि हिन्दी—ऐसी हिन्दी जो लिखी-पढ़ी जाती है और बोली भी

जा सकती है, ऐसी हिन्दी जिसके लिखे, पढ़े और बोले जाने वाले तीन अलग रूप नहीं हैं बल्कि एक ही सहज स्वरूप है—ऐसी हिन्दीका मेरा अभ्यास कुछ अधिक हो गया। और यह इसके बावजूद कि पहले-पहल बोलना हिन्दीमें सीखनेके बाद मेरी शिक्षा आरम्भसे ही क्रमशः संस्कृत, फ़ारसी और अंग्रेज़ीमें हुई।

इसलिए यद्यपि मैं मानता हूँ कि मेरा जीवन दूसरी तरहका रहा होता तो मुझे कुछ और लाभ भी हुए होते या हो सकते, यह मैं नहीं मान सकता कि परिस्थितिसे मुझे क्षति ही क्षति हुई। और मैं समझता हूँ कि—अच्छी ही हिन्दी लिख लेता हूँ…परिस्थितिकी इस देनको गर्वोक्ति न समझा जाय।

द्विवेदी-युगमें भाषाके बारेमें जो सजगता और आग्रहशीलता थी वह आज नहीं है। यह ठीक है कि उस युगमें भी जो आग्रह था वह आजकी स्थितिमें पर्याप्त न होता, क्योंकि उस समय व्याकरण-शुद्धिपर और भाषाके प्रतिमानीकरणपर ही अधिक बल दिया जाता था, और भाषा अथवा शब्दका संस्कार व्याकरण-शुद्धिसे अधिक बड़ी और गहरी बात है। किन्तु द्विवेदी-युगका आग्रह तत्कालीन आवश्यकताके सन्दर्भमें यत्प्रमाण ही था। और उस युगके भी कुछ कवियोंने तथा बादके कई कवियोंने इस बातका गहरा अनुभव किया कि भाषा लिखनेमें व्याकरण-शुद्धिसे अलग भी या अधिक भी कुछ चाहिए। किन्तु छायावादके बाद यह चेतना क्रमशः क्षीणतर होती गयी है। परवर्ती वादोंका नाम लेना उचित नहीं है, क्योंकि इस कुप्रवृत्तिके लिए किसी एक वादको दोषी नहीं ठहराया जा सकता। इतना ही कहूँ कि छायावादी-युगके कुछ कवियोंको छोड़कर, भाषाके सम्बन्धमें जितनी चेतना कवि अथवा साहित्यकारमे होनी चाहिए, उतनी कम लेखकोंमे रही, और उसे आवश्यक तो और भी कम लेखकोंने माना। मैं समझता हूँ कि यह हिन्दीकी एक बहुत बड़ी कमी या समस्या रही है और है। हम लोगों—लेखकों—मेसे अनेकोंका यह भाव, कि लिखते

समय तो एक प्रकारकी हिन्दीका प्रयोग होना चाहिए जो सही हो, 'अच्छी हिन्दी' हो, पर बोल-चालमें या दूसरे कामोंमें दूसरे ढंगकी हिन्दीसे भी काम चल सकता है, यह एक बुनियादी भूल है। भाषाका संस्कार सही वही होता है जो इतना गहरा हो जावे कि लिखते-बोलते समय ही नही, स्वप्न देखते समय भी यह प्रश्न न उठे कि भाषा सही है या नहीं। सही भाषा जब सहज भाषा हो जाय तभी वह वास्तवमें सही है। इस सहजताकी साधना हम हिन्दी लेखकोंने यथेष्ट नहीं की, ऐसा मुझे लगता है।

आधुनिकता : वस्तु और नैतिक मूल्य

काव्यकी वस्तुके बारेमें भी कुछ कहनेकी गुंजाइश है। मैं मानता था कि यह बतानेकी आवश्यकता न होनी चाहिए कि काव्यका विषय और काव्यकी वस्तु अलग-अलग चीजें हैं, पर हिन्दी आलोचना पढ़कर बार-बार समझना पड़ता है कि इस बुनियादी बातको स्पष्ट कहने और दोहरानेकी आवश्यकता है। कवि कोई नया विषय लेकर भी वही पुरानी वस्तु भी दे सकता है, और कोई पुराना विषय ले कर नयी वस्तु भी दे सकता है। इस लिए काव्य कैसा है, यह विचार करनेके लिए विषय कैसा है, या क्या है, या नया है या पुराना है अथवा नहीं है, इसकी परीक्षा उतनी आवश्यक नहीं है जितनी कि उसकी वस्तुकी परीक्षा। विषय भी छोटे-बड़े हो सकते हैं, कम या अधिक महत्त्वके हो सकते हैं, और उसका भी कुछ विचार तो होगा ही, पर साहित्यिक मूल्यांकन प्रथमतः वस्तुसे सम्बन्ध रखेगा।

और किसी भी कृतिकी वस्तु अनिवार्यतया मानवीय वस्तु होती है। काव्य पेड़पर या पहाड़पर भी हो सकता है, पर पेड़ या पहाड़ उसके विषय होंगे, वस्तु नहीं; वस्तु जो भी होगी मानवीय ही होगी। क्योंकि वह विषयके साथ कविके रागात्मक सम्बन्धका प्रतिबिम्ब होगी—एक संवेदना या चेतना की अपनेसे इतरके साथ परस्पर प्रतिक्रियासे उद्भूत वस्तु। इसलिए वस्तुकी

परीक्षा करते समय कृतिकारके मानसकी परीक्षा भी आवश्यक होती है। तो काव्य-विवेचनमें विषयका बहुत कम महत्त्व है, वस्तुका ही है, और वस्तुका महत्त्व भी इसलिए है कि वह वस्तु मानवीय है और उसके सहारे हम कृतिकारके मनमें पहुँचते हैं और उसकी परख करते हैं कि कैसे वह वस्तु तक पहुँचा, कैसे उसे उसकी संवेदनाने ग्रहण किया और कैसे बहुजन-संवेद्य या प्रेषणीय बनाया।

इसीके साथ बँधा हुआ दूसरा प्रश्न मूल्योंका है। यह शब्द भी इस अर्थमें बहुत नया है। पुराने कविके लिए कभी यह समस्या नहीं हुई कि काव्यके, या कि नैतिक, मूल्योंका विचार किया जाय। आज यह नितान्त आवश्यक हो गया है, क्योंकि मूल्योंपर इतना जोखम भी कभी नहीं हुआ जितना आज है। जो भी मूल्य हैं वे भी सन्दिग्ध हैं और उनसे इनकार भी उतना ही सन्दिग्ध है। अर्थात् श्रद्धा भी सन्दिग्ध है और सन्देह भी उतना ही सन्दिग्ध। यह आभ्यन्तर संकट और इसकी चेतना आधुनिकताका लक्षण भी है और उसका शाप भी।

मानव-समाज उन्नति कर रहा है। उन्नतिका मार्ग यन्त्रीकरणका है। यन्त्र ही उन्नतिका साधन है। किन्तु यन्त्र नैतिक नहीं है। उसे हम अनैतिक न कह सकें तो कहें कि वह अति-नैतिक है। उसे नैतिकतासे कोई मतलब नहीं है। तो मानव यन्त्रके सहारे उन्नति करता है, और यन्त्रको नैतिकतासे कोई मतलब नहीं है, पर मानव ऐसा नहीं हो सकता कि उसे भी नैतिकता से कोई मतलब न रहे। यह तो हो सकता है कि वह कुछ अनैतिक करे; यह भी हो सकता है कि वह भरसक अनैतिक कुछ न करे। लेकिन नीति और अनीतिके विचारसे ही वह मुक्त हो जाय, यन्त्रके साथ यन्त्र हो जाय, ऐसा उसके लिए कम-से-कम अभी तक सम्भव नहीं हुआ है (और मैं आशा भी करता हूँ कि कभी सम्भव नहीं होगा)।

इस परिस्थितिमें, जहाँपर हमारी उन्नतिके जितने साधन हैं उन सबको नीतिसे कोई मतलब नहीं है पर स्वयं हमें नीतिसे मतलब है—

बल्कि उससे हमारा प्रयोजन बढ़ता जा रहा है—आधुनिकता नामको एक नयी समस्या हमारे सामने है। वह समस्या और भी विकट इसलिए होती है कि पुरानी, शास्त्रीय, धार्मिक अथवा ईश्वर-सम्भूत नैतिकताकी प्रवृत्ति इस युगमें क्रमशः कम होती जा रही है और आज हम नैतिकताका आधार खोजना चाहते हैं तो एक मानव-सम्भूत नीतिमें ही। अब भी ऐसे अनेक हैं जिनके लिए ईश्वरपरक नैतिकता काफ़ी है और जो धर्मके बारेमें कोई प्रश्न नहीं पूछते, लेकिन उनकी संख्या क्रमशः घटती जाती है और ऐसे लोग बढ़ते जाते हैं जो 'नैतिक क्या है ?' इसका उत्तर पानेके लिए मनुष्यकी ओर देखते हैं। इस प्रकार नैतिकताका आधार स्वयं होकर अथवा अपनी बुद्धिको बना कर हमने समस्याको कठिनतर ही बनाया है। जो दायित्व अब तक धर्मपर या ईश्वरपर था, वह मानवने अपने ऊपर ओढ़ लिया है।

यह समस्या किसी रचनामें स्पष्ट शब्दोंमें प्रकट हो या न हो, आजके कृतिकारके सामने रहती ही है। और इसके सन्दर्भमें—जिस हद तक वह इसके प्रति सजग होता है—एक नयी समस्या हो जाती है उसकी अपनी संवेदना या अनुभूतिकी। हम यन्त्रके सहारे उन्नति करते हैं; यन्त्रमे जैसे नैतिक बोध नहीं है वैसे ही अनुभूति भी नहीं है। पर हम जैसे नैतिकतासे मुक्त नहीं हो सके हैं वैसे ही अनुभूतिसे मुक्ति भी हमने नहीं पायी है। इस प्रकार यन्त्रके सहारे क्रमशः आगे बढ़ते हुए हम पाते हैं कि उसी अनुपातमें यन्त्रके सन्दर्भमें हमारी अनुभूतिका मूल्य दिन-दिन कम होता जाता है। अगर हम इससे इस नतीजेपर पहुँच सकते कि स्वय अपनी अनुभूतिको नगण्य मान लेते, तो शायद समस्या न होती—पर हम वैसा नहीं कर सकते। संवेदनशील प्राणी (—और लेखक कुछ अधिक संवेदनशील ही होता है, कम नहीं; चाहे इसी रूपमें कि कुछ क्षेत्रों या आयामोंमें उसकी संवेदना अधिक तीव्र या घनी हो जाती है, भले ही कुछ दूसरेमें संकुचित हो जाये या कुन्द हो जाय—) अनुभूतिको अमान्य कभी नहीं कर सकता। परि-

णाम यह होता है कि वह अनुभूतिपर अतिरिक्त आग्रह करने लगता है। आलोचक इसे असन्तुलन कह कर उड़ा दे सकते हैं। या वे यह प्रश्न उठा सकते हैं, जैसा कि कुछ शास्त्रीय आलोचकोंने उठाया है, कि अनुभूतिकी इतनी चर्चासे लाभ क्या—निजी दुःख-सुख या सघर्ष आखिर निजी ही तो हैं, उससे जो व्यापक या सार्वजनिक उपलब्धि हो वही सामने लानी चाहिए। किन्तु उपलब्धिकी व्यापकताका खंडन किये विना भी यह कहा जा सकता है कि कलाकारके सत्य और वैज्ञानिकके सत्यमें अन्तर है तो यही कि कलाकारका सत्य रागात्मक सम्बन्धपर आश्रित है—अर्थात् मानवीय सघर्षो और अनुभूतियोंके सन्दर्भमे ही सार्थक है। उसे सन्दर्भसे काटकर नही ग्रहण किया जा सकता। और वास्तवमें पश्चिमके संघर्ष-प्रधान साहित्यके मूलमें यह बात है भी। न तो उस संघर्षको पश्चिमके जीवनकी यथार्थ परिस्थिति से अलग करके समझा जा सकता है, और न उससे उपलब्ध या उसपर परखे गये मूल्योंको उस संघर्षसे अलग करके प्रेषित किया जा सकता है। जो पाठक उस संघर्षको नहीं समझ सकते है, वे उसमे उत्पन्न होने वाले नैतिक आग्रहोंको भी नहीं समझ सकते हैं। समकालीन प्रवृत्तियोंसे इसके कई उदाहरण दिये जा सकते है—पर वे उन्हींके लिए उपयोगी होंगे जिनके लिए वे अनावश्यक है—जिनके लिए उनकी आवश्यकता होगी उनके लिए वे उसी कारण अनुपयोगी हो जावेंगे !

क्षण

समकालीन साहित्यमें 'क्षण'पर जो आग्रह लक्षित होता है, उसे इसी सन्दर्भमें समझना चाहिए। अनुभूति और परिस्थितिमें जब विपर्यय, असन्तुलन या विरोध होता है तब कलाकार अनुभूतिपर आग्रह करता है। यदि वह अतिरिक्त आग्रह है तो इसीलिए कि वह सन्तुलन और सामंजस्यका आग्रह है। साहित्य अथवा कलाके आन्दोलनोंका अध्ययन करें तो हम पावेंगे कि यह आग्रह केवल नये युगकी विशेषता नहीं है। जब-जब परि-

स्थिति और अनुभूतिमें ऐसा विपर्यय हुआ है तब-तब ऐसा आग्रह पाया गया है। क्षणका आग्रह क्षणिकताका आग्रह नहीं है, अनुभूतिकी प्राथमिकताका आग्रह है। और अनुभूतिको अनुभावकसे अलग नहीं किया जा सकता—अनुभूति अद्वितीय है क्योंकि कोई दूसरेकी अनुभूति नहीं भोग सकता। 'सहानुभूति'में 'सह' विशेषणमें ही इसकी स्वीकृति है और कवि साधारणीकरण द्वारा जिस अनुभूतिका प्रेषण करता है वह काव्यानुभूति जीवनकी अनुभूतिसे अलग होती है।

क्षणके इस आग्रहका एक पक्ष यूरोपके साहित्यिक अस्तित्ववादमें पाया जाता है। मृत्युके साथ उसके लगावके मूलमें एक बात यह है कि मृत्यु-साक्षात्कारके क्षणमें ही जीवनकी चरम अथवा तीव्रतम अनुभूति होती है—जीवनका चरम आग्रह उसी क्षणमें प्रकट होता है। जिस अरुचि अथवा 'मतली'की उसमे चर्चा है, वह भी परिस्थिति और अनुभूतिमें विपर्ययके अस्वीकारकी ही प्रतिक्रिया है। जिस मानवने जिस व्यक्ति-विकासपर आधारित जिस यन्त्र-सभ्यताके सहारे जिस प्रकृतिपर विजय पाकर अपनी उत्कृष्टता सिद्ध की है, वही मानव उसी यन्त्रके कारण उसी प्रकृतिके सामने इतना नगण्य हो गया है कि उसके व्यक्ति-जीवनकी अनुभूतियाँ कोई अर्थ ही नहीं रखतीं—इस विराट् न-कारको निगलनेके लिए बाध्य होनेपर अगर उसकी अँतड़ियाँ विद्रोह करती हैं तो वह समझमें आ सकना चाहिए।

निस्सन्देह यह अस्तित्ववादी दर्शन ही एकमात्र दर्शन नहीं है। दूसरे भी हैं। एकान्त सत्यका आग्रह न विज्ञानका होता है, न कलाका; धर्मका वह हो सकता है। कला या साहित्यके किसी आन्दोलनमें बुनियादी आग्रह क्या है वह समझना चाहिए; क्षणके दर्शनमें आग्रह यह है कि जीवनानुभूति नामकी निजी और आत्यन्तिक चीज़को दूसरी सब चीज़ोंकी अपेक्षामें रखना पूर्वापरको उलटना है। घोड़ेके आगे गाड़ीको जोतना है। दूसरा

सब-कुछ ही जीवनानुभूति नामकी निजी चीज़की अपेक्षा रखता है। अनुभूति आत्यन्तिक है, इतर सब-कुछ केवल सन्दर्भ।

क्षणके विषयमें जो कुछ मैंने कहा है मेरे निजी विचार हैं। इससे यह न समझा जाय कि क्षणकी चर्चा करनेवाले सब मेरी समझमें इसी दृष्टिसे सोचते हैं, या कि उन सबमें इसकी अथवा ऐसी उत्कट अनुभूति हो। यह भी हो सकता है अनेकोंमें वैसी अनुभूति न हो; अथवा अनुभूति दूसरोंकी हो पर क्योंकि ऐसे लेखनमें कुछ नयापन पाया गया हो या उसका प्रभाव पड़ा हो इसलिए दूसरोंने भी उसी प्रवाहमें लिखना आरम्भ कर दिया हो। जैसा लिखनेका फ़ैशन हो, या समझा जाय, वैसा और तो लिख ही सकते हैं। और फ़ैशन नया ही होता है। दूसरी जगह पुराना होकर छोड़ा भी जा चुका हो तो भी क्या; जहाँ ग्रहण किया जाता है वहाँ नया ही होता है, नया माना जाकर ही फ़ैशन होता है और उस रूपमें अनुकृत होता है। निःसन्देह नयी कविताके नामपर लिखा और छापा जानेवाला बहुत-कुछ ऐसा है। किन्तु जो कृति न होकर अनुकृति है, उसके घटियापनके आधार-पर कृतिको रद्दी ठहरा देना भूल है; वह आलोचना नहीं, प्रवंचना है। अनुकृति अन्ततः अनुकृति है; कृतिका मूल्यांकन उसके आधारपर नहीं होता। छायावाद-युगमें भी—आज हम जानते हैं—कवि इने-गिने ही थे। पर छायावादी ढगकी कविता लिखनेवाले बहुत थे। दूसरे काव्य-युगोंमे भी ऐसा होता रहा है। केवल इसलिए, कि किसी समय जो कुछ लिखा जा रहा है उसमें कुछ सच्चा और मूल्यवान् जान पड़ता है और बहुत-सा ऐसा नहीं जान पड़ता, समूचेको उपेक्षणीय नहीं ठहरा दिया जा सकता। सागर में सीप बहुत हैं, मोती बहुत कम, इतने ही से जो आलोचक गोता लगानेके परिश्रमको व्यर्थ समझता है या सागरका ही अस्तित्व मिथ्या प्रमाणित हो गया मानता है, स्पष्ट है कि उसके हाथ हम अपनी साहित्य-नौकाकी पतवार नहीं सौंप सकते।

●

कठघरेसे*

प्रश्न १ : साधारणतया आपके बारेमें लोगोंकी तरह-तरहकी धारणाएँ हैं। उन्हें आप जानते हैं ? वे कहाँ तक ठीक हैं ? जो ठीक नहीं हैं उनके लिए कहाँ तक आप उत्तरदायी हैं, या कि उन्हें ठीक करनेमें अपना क्या कर्त्तव्य मानते हैं ?

उत्तर : तरह-तरहकी धारणाएँ हैं यह तो जानता हूँ। क्या हैं, यह भी कुछ जानता हूँ—जाने विना रह कैसे सकता जब वह पत्र-पत्रिकाओं तकमे प्रकट होती रहती हैं, बात-चीतमे तो होती ही हैं; और जब मेरे प्रति लोगोंका व्यवहार--या व्यवहारकी अनुपस्थिति !—उनको प्रतिबिम्बित करती है ?

*** इस प्रश्नोत्तरका सूत्रपात सर्वेश्वरदयाल सकसेना द्वारा प्रेषित एक लिखित प्रश्नावलीसे हुआ था; उन प्रश्नोंके उत्तर लिखकर उन्हें दिये जानेपर दो-एक पूरक प्रश्न उन्होंने और पूछे जिनका उत्तर भी यथा-स्थान जोड़ लिया गया। यह मानकर कि ये प्रश्न एक बन्धुके सहज कौतूहलसे अधिक सामयिक अभिप्राय रखते हैं, और ये उत्तर न केवल लेखकके जीवनको समझने या उसकी कृतियोंके मूल्यांकनमें उपयोगी होंगे वरन् समकालीन लेखक मात्रकी समस्याओंको एक व्यापकतर परिपार्श्वमें भी रख सकेंगे, इस प्रश्नोत्तरको यहाँ सम्मिलित कर लिया गया है। लेखकने जो कुछ अपने विषयमें कहा है, उसे तो उसीके सन्दर्भमें ग्रहण करना होगा और वह तद्वत् किसी दूसरे लेखकके जीवनपर लागू न हो सकेगा, पर उससे दूसरोंका अन्तःसंघर्ष भी एक प्रखरतर प्रकाशमें पाठकके सम्मुख आ सकेगा ऐसी आशा की गयी है।**

पर वे धारणाएँ ठीक हैं, यह मानना कठिन है। उनमें बहुत-सी न केवल भ्रान्त हैं, वरन् निराधार भी हैं—यानी मेरी ओरसे उनके लिए कोई आधार नहीं प्रस्तुत किया गया है—यों पूर्व-ग्रहका भी आधार तो होता ही है स्वय पूर्व-ग्रहीमें। कई धारणाओंसे मुझे अचरज होता है, कुछसे विनोद, कुछसे क्लेश भी। और सबके लिए मैं ही उत्तरदायी हूँ, यह मानना तो और भी कठिन है—अगर मेरा होना ही उत्तरदायी होना नहीं मान लिया जाय। एक उदाहरण दूँ : सुना है कि कई लोग मेरे निकटके बन्धुओंसे पूछा करते हैं—'क्यों जी, तुमने 'अज्ञेय' को कभी खुलकर हँसते देखा है?' मेरे बन्धु स्वय इस प्रश्नपर हँसते हैं, क्योंकि वे और मैं साथ बैठकर अनेकों बार अनेकों विषयोंपर हँसे है। हाँ, जब मैं काम करता हूँ तो एकाग्र होकर काम करता हूँ; हर दस मिनटपर पान-सिगरेटके लिए अवकाश निकालना, या टहलकर दूसरे कार्यव्यस्त लोगोंको कामसे हटाकर उनसे गप्प लड़ाना—इसकी मुझे आवश्यकता भी नहीं महसूस होती और इसे मै बुरी आदत भी समझता हूँ क्योंकि यह कार्य-क्षमताको क्रमशः क्षीण करती जाती है। इतने ही से कुछ लोग ऐसे नाराज हो जाते हैं कि मुझे मनहूस, दुर्विनीत आदि ठहरा देते है। जब मैं 'विशाल भारत' मे गया था तब पटनेके एक साप्ताहिकके सम्पादक महोदयने मेरे आनेसे वहाँ छा जानेवाली 'मनहूसियत' पर तीन-चार कालमका सम्पादकीय लेख लिख डाला था : यह उन्हे सूझा ही नहीं था कि उनकी यह प्रतिक्रिया स्वय 'सेंस आफ़ ह्यूमर' की कितनी कमीका प्रमाण है—जिसे बगलामें 'काण्डज्ञान' कहते हैं उसकी कमीकी बात तो छोड़ ही दें!

मुझे जो शिक्षा-दीक्षा मिली, उसमें सन्तुलनको—जीवन, कर्म और भावाभिव्यक्तिके सहज संयमको—विशेष महत्त्व दिया जाता रहा। और परिस्थितियोंने एकान्त इतना अधिक दिया कि एक आत्म-निर्भरता अभ्यास नहीं, चरित्रका अंग बन गयी : चिन्तन और अनुभूति कम नहीं हुई, पर कोई अनुभूति तत्काल दूसरोंपर प्रकट हो ही जानी चाहिए या

चेहरेपर झलक आनी चाहिए, सामाजिकताकी ऐसी कोई परिभाषा भी सीखनेको न मिली। अब, जब उतना एकान्त नहीं है, तब भी उस संस्कारकी छाप तो है ही। लोग मुझे अच्छे लगते हैं; पर भीड़ें नहीं, उतने ही जितनोंसे एक-साथ सीधे निजी सम्पर्क हो सके : जितनोंमें सभी मुक्त भावसे अपनेको अभिव्यक्ति दे सकें और एककी अभिव्यक्ति दूसरेकी बाधा न बने। समाजमे जीवी बनकर आऊँ या रहूँ, यह मुझे ठीक लगता है; अभिनेता बनकर रहूँ यह ग़लत : जहाँ अभिनेता बनकर आना अनिवार्य हो वहाँ भरसक आता ही नहीं, क्योंकि वह फिर उस अर्थमें समाज नहीं है—वहाँ आदान और प्रदानकी धाराएँ एक-सी मुक्त नहीं बहती हैं। लेखक, या कवि या साहित्यकारके नाते विशिष्ट रूपमें दूसरोंके बीचमें आनेमें मुझे संकोच ही नहीं, ग्लानि भी होती है, क्योंकि वैसा कुछ वैशिष्ट्य है तो अपनी साधनाके क्षेत्रमें। समाजको उससे कुछ मतलब है तो तब जब कि मेरी रचना उसके सम्मुख है और मैं नहीं हूँ। अगर मैं, या मैं भी, सम्मुख हूँ तो फिर उस विशिष्टताको छोड़ देना चाहिए या ओट कर देना चाहिए—क्योंकि तब मैं समाजका अंग बना रहना चाहता हूँ, एक प्रदर्शित जन्तु नहीं।

मुझे लगता है कि हिन्दी लेखकोंमे ऐसा सोचनेवाले शायद कम हैं, पाठकोंमे तो कम हैं ही। हो सकता है कि मेरा ही भाव-सस्कार विदेशी है। इसलिए मेरा बर्ताव लोगोंको कुछ भिन्न जान पड़ता है—भिन्न है ही—और इसका कारण वे मेरा अहकार मान लेते हैं। इसलिए मैं दूर रखा जाता हूँ : और बचपनसे एकान्तके अभ्यस्त मुझको जब दूर रख दिये जानेसे कोई क्लेश नही होता—या होता दीखता नहीं—तो यह भी मानना युक्ति-संगत जान पड़ने लगता है कि यह अहकार आभिजात्यका अहंकार है। जब कि स्थिति यह है कि अपने थोड़ेसे बन्धुओंसे मुझे यथेष्ट सामाजिक तृप्ति मिल जाती है और बाक़ी बहुत-सी खुराफ़ातसे बचकर मैं दत्तचित्त होकर अपना काम कर सकता हूँ। मैं जानता हूँ कि मैं साधारण हिन्दी या

भारतीय लेखकसे अधिक परिश्रम करता हूँ : अधिक समय पढ़ने लिखनेमें बिताता हूँ, अधिक समय आत्म-प्रशिक्षणमें जिसमें केवल मनका प्रशिक्षण नहीं, ज्ञानेद्रियोंका और हाथोंका प्रशिक्षण भी शामिल है। मैं कपड़े सी लेता हूँ, जूते गाँठ लेता हूँ, फ़र्नीचर जोड़ लेता हूँ, मिठाई-पक्वान्न बना लेता हूँ, जिल्द-बन्दी कर लेता हूँ। पंखे, साइकल, मोटर, बिजलीके छोटे-मोटे यन्त्र—इनकी सफ़ाई और थोड़ी-बहुत मरम्मत कर लेता हूँ। विलायती ढंगके बाल काट सकता हूँ, चाभियाँ खो जावें तो ताले खोल दे सकता हूँ, सूत कात लेता हूँ, मामूली कढ़ाई कर लेता हूँ, मिट्टीके खिलौने बना लेता हूँ, काठके ठप्पे खोदकर कपड़े छाप लेता हूँ, साँचे तैयारकर मूर्तियाँ बना लेता हूँ। प्रूफ देख लेता हूँ, कम्पोज़ कर लेता हूँ, प्रेसकी मशीन चला लेता हूँ। फ़ोटो खींचता हूँ, फ़िल्म और प्रिंट डेवेलप कर लेता हूँ, हाथसे रंग लेता हूँ। घरकी पुताई कर लेता हूँ, सिमेंटके गमले बना लेता हूँ। फूलोंकी और तरकारीकी खेती कर लेता हूँ, फावड़ा, कुल्हाड़ी, गैंती चला लेता हूँ, निराई कर लेता हूँ। बन्दूक़-पिस्तौल चला लेता हूँ। तैर लेता हूँ, दौड़ लेता हूँ, पहाड़ चढ़ लेता हूँ, क्रिकेट, टेनिस, बैडमिंटन खेल लेता हूँ। और इन सबमें केवल शौक रखता होऊँ ऐसा नहीं है; अधिकांशमेंसे किसीके भी सहारे आजीविका भी कमा ले सकता हूँ! और जो नहीं जानता वह सीखनेको हमेशा तैयार हूँ। ऐसी दशामें हल्की ग़प्पबाज़ीकी अनुपस्थितिमें अपनेको वंचित या मोहताज न अनुभव करूँ तो अपनेको दोषी नहीं मानता, और जो लोग लिख-लिखकर गालियाँ देते हैं उनकी गालियोंसे उतना न तिलमिलाऊँ जितना वे चाहते हैं तो उन्हें भी यह न समझना चाहिए उनकी गालियोंमें शक्ति कम थी—इतना ही कि वे निशानेपर लगी ही नहीं।

पर कोई मेरे बारेमें जो सोचे ठीक सोचे, इसके बारेमें मुझे क्या करना चाहिए? पहले तो कोई सोचे ही क्यों : और सोचे तो जो उसे ठीक जान पड़े वही सोचे। मेरे बारेसे अगर लोग कुछ सोचें तो अच्छा सोचें,

ऐसा चाहना स्वाभाविक हो सकता है पर वह आखिर चाहनेका ही तो क्षेत्र है—अपनी आकांक्षासे मैं दूसरेको बाँध तो नहीं सकता न ? और वह अच्छा केवल अच्छा ही न हो, सच भी हो; या अगर बुरा सोचा गया है तो वह झूठ हो; यह तो अपने कर्म और उसके स्वयं निरीक्षणका क्षेत्र है—मैं अमुक प्रकारका होऊँ या न होऊँ इसके लिए मुझे स्वयं परिश्रम करना होगा, दूसरोंको उससे क्या ? मेरा कर्तव्य इतना ही है कि वह परिश्रम मैं करूँ, और, हाँ, उससे मुझे जो उपलब्धि हो उससे किसीको वचित न करना चाहूँ बल्कि उसे दूसरों तक पहुँचानेका प्रयत्न करूँ। मेरा ख्याल है कि वह मैने किया भी है । हो सकता है कि मैने चाहा हो कि इस दिशामें जो परिश्रम करूँ वह ऐसे व्यक्तियोंके साथ करूँ जिन्हे उससे अधिक लाभ हो और मेरा परिश्रम व्यर्थ न जाय, हो सकता है कि मैने पहचाननेमें भूल की हो या कि अपने परिश्रम का व्यर्थ मोह किया हो । पर सूमकी तरह केवल जोड़कर रखना मैंने नहीं चाहा—अपने जानते हुए किसी क्षेत्रमें नहीं ।

प्रश्न २ : जीवनमें आप किस सीमा तक समझौता कर पाते हैं ? अपने व्यवहारकी सफ़ाई किस हद तक और किन लोगोंको देना उचित समझते हैं—या नहीं समझते ?

उत्तर : समझौता, अपनी समझमें, कम कर पाता हूँ। कभी जहाँ सोचता भी हूँ कि वही व्यावहारिक होगा, वहाँ भी नहीं कर पाता—यानी युक्ति जिसे मानती है, वह भावना-ग्राह्य नहीं होता और तब भावनाको अमान्य नहीं कर पाता । पर समझौता नहीं कर पाता इसका यह अर्थ नहीं कि भूल नहीं करता । जीवनमें अनेक भूलें की हैं और उनकी कोई सीमा निर्धारित कर सका होऊँ ऐसा नहीं जाना। भूलोंके लिए दण्ड मिलता है सो भोगता हूँ । भूल अपने सामने स्वीकार कर लूँ यह काफ़ी मालूम होता है, दण्ड दूसरोंके सम्मुख रोकर ही भोगूँ इसकी कोई आवश्यकता नहीं देखता ।

और भूलकी सफ़ाई क्या ? जब दीख जाय, तब उसके स्वीकारको ही अधिक महत्त्व देता हूँ। स्वीकृतिके साथ-साथ सफ़ाई देनेमें नैतिक दुर्बलता दीखती है, या आत्म-सम्मानकी कमी। स्वीकारके बाद दूसरे रियायत करें, या देखें कि कैसे वह भूल असम्भाव्य न थी या क्षन्तव्य है— यह उनके विवेक और औदार्यपर है।

पर भूलको छोड़, केवल विवादास्पद व्यवहारकी बात हो, तो कहूँ कि जो स्नेही या हितैषी हैं, या जिनका मन खुला है, या जिनमे शुद्ध जिज्ञासा है, उनके सामने जवाब देनेको, उन्हें समझानेको, समाश्वस्त करनेको, उनकी शकाओंका समाधान या निवारण करनेको, बराबर तैयार हूँ। जिनका स्नेह या विश्वास मुझे मिला है, उनके प्रति अपना दायित्व बहुत बड़ा मानता हूँ।

किन्तु जो पहले ही अविश्वास या विरोध-भाव लेकर आते है, जिनके प्रश्नोंमें पूर्व-ग्रह प्रधान है, जो व्यवहारके बारेमे नहीं, नीयतके बारेमें प्रति-कूल धारणा बनाकर आते हैं, उनके सम्मुख सफ़ाई देनेकी बातसे आत्मा विद्रोह कर उठती है। मैं जानता हूँ कि यह विद्रोह अव्यावहारिक है, बार-बार अपनेको बताता हूँ कि आजके वाद-दूषित वातावरणमे प्रतिकूल पूर्व-ग्रहकी सम्भावना ही अधिक है, विरोधीका मत-परिवर्तन ही तो वास्त-विक विजय है और राजनीतिकको तो निरन्तर विरोधके बीचमें जीना होता है। पर मैंने कहा न कि कुछ बातोंको युक्ति मान लेती है और भावना अंगीकार नहीं करती ? यह बात भी वैसी ही है।

कह लीजिए कि आत्म-सम्मानका अतिरंजित भाव है, या अहंकार है, या कोरी सिद्धान्त-वादिता या अनावश्यक संवेदन-शीलता, कि मिजाज ज़्यादा नाज़ुक है या चमड़ी बहुत पतली है। कह लीजिए कि ऐसे राज-नीतिमें सफल नहीं हो सकता, और आज सफलताका अर्थ राजनीतिक सफलता ही है। मैं जानता हूँ कि मैं असफलताके पथपर हूँ। लेकिन

भीतर कुछ कहता है कि उस पथके अन्तपर पहुँचकर जब पीछे देखूँगा, तो कुल मिलाकर अपनी असफलतापर ग्लानि नहीं होगी, न अपनेको यह आश्वासन देना आवश्यक जान पड़ेगा कि इसकी पूर्ति अगले जन्म या लोकमें होगी—इसी लोककी उतनी मात्र उपलब्धि यथेष्ट होगी ऐसा मुझे प्रत्यय है ।

तो जो विरोधी पूर्वग्रह लिये हुए हैं उन्हें कोई सफ़ाई देनेकी आवश्यकता मैं नहीं समझता, और भरसक उनके विरोधसे न उलझनेका मैंने प्रयत्न किया है । एक-आध अवसर पर ही इसमें चूक हुई है, और उसके लिए मैं पछताया हूँ । और जिन्होंने विश्वास दिया है, उनकी शंकाओंकी भरसक मैंने कभी उपेक्षा नहीं की है, उस विश्वासका पात्र बने रहने या होनेके लिए मैंने सतत प्रयास किया है ।

प्रश्न ३ : लोगोंकी धारणा है कि आर्थिक दृष्टिसे आप सदैव सम्पन्न रहे हैं, और हैं; और रईसी तबीयत आपको विरासतमें मिली है । लोग मानते हैं कि इस स्थितिको बनाये रखनेके लिए आप कोई भी समझौता कर सकते हैं । यह कहाँ तक ठीक है ?

उत्तर : बाल्य-कालमें एक बार एक हाथ देखने वाला हमारे यहाँ आया था । ऐसी बातोंको एक शग़लसे अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता था, पर इस आदमीमें सभा-चातुर्य कुछ अधिक था, इसलिए पिताजीकी सहास ताडनाके बावजूद वह थोड़ी देर टिका रहा । मेरा हाथ देखकर बोला—'यह बादशाह होगा ।' फिर थोड़ी देर बाद हँसकर : 'तबीयतका बादशाह होगा—वैसे पल्ले कभी कुछ नहीं रहनेका !' बात अच्छी लगी थी, पर हँसकर उड़ा दी गयी थी । पूर्व-पक्ष तब प्रीतिकर था ही, उत्तर-पक्षको किसीने महत्त्व नहीं दिया क्योंकि हाथ देखनेपर विश्वास किसे था ? आज जानता हूँ कि उत्तर-पक्ष भी सच रहा है और है, तो यह केवल स्थितिका स्वीकार है, सामुद्रिकका अनुमोदन नहीं ।

मैं तो यही समझता हूँ कि साधारण मध्य-वित्तीय स्थिति हमारे परिवारकी रही; दैन्य हमने नहीं जाना तो जिसे सम्पन्नता कहना चाहिए, अर्थात् जिसका आधार आर्थिक निश्चिन्तता हो, वैसी व्यय-क्षमता—वह भी हमारी नहीं थी। यों हिन्दीके औसत लेखककी पारिवारिक स्थितिकी अपेक्षा मेरी कुछ अधिक सुविधाकी रही, यह मान लेनेमें मुझे संकोच नहीं। पर उसमें उतार-चढ़ाव नहीं रहे ऐसा नहीं है। और मैंने विशेष कुछ उद्योग किया तो वह सुविधाकी स्थितिको बनाये रखनेके लिए था यह तो बिल्कुल ही ग़लत है—मेरे सब उद्योग इससे ठीक उलटे रहे। बम-विस्फोटक बनानेवाली बातको तो छोड़िए—यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि वह रईसी बनाये रखनेके लिए किया गया समझौता था। पर कष्टके दिन मैंने न जाने हों, लगातार दो-चार दिन लाचारीकी फ़ाकाकशीके अवसर न जाने हों, दूकानोंके सामने खड़े होकर फल-मिठाई आदिका बेबस काल्पनिक आस्वादन न किया हो, ऐसा नहीं है। अगर रईसीका यह अर्थ है कि उससे हीन-भाव या कटुता नहीं आयी, तो मान लेना होगा कि रईसी मुझमें रही। और यह भी मान लेना होगा कि ऐसी स्थितियोंमें पड़ना वास्तवमें 'लाचारी' नहीं थी, क्योंकि ऐसा नहीं था कि मैं चाहकर भी स्थितिको न बदल सकूँ—बल्कि एक तरहसे वह स्वेच्छया वरण की गयी ही स्थिति थी—सिद्धान्तके नामपर। उनमेसे कुछ सिद्धान्त आज बचकाने हठ मालूम होते हों, वह दूसरी बात है। पर समझौता मुझसे प्रायः नहीं बन पड़ा, न अब बनता है।

लेकिन मेरे कुलके बारेमे लोग—या आप भी—जानते कितना हैं? मेरे पिताने जब अवकाश लिया तब वह एक उच्च पदाधिकारी थे अवश्य, पर आरम्भिक शिक्षा उन्होंने एक संस्कृत 'टोल'में पायी थी—गुरुके साथ रहकर उनके खड़ाऊँ ढोकर और उनके अँगौछे धोकर। यह तो मैट्रिक परीक्षामें प्रथम आकर छात्रवृत्ति पानेपर ही सम्भव हुआ कि वह विधिवत् विश्वविद्यालयकी शिक्षा पूरी करके प्राध्यापक नियुक्त हो सकें। विश्व-

विद्यालयमें भी वह प्रत्येक परीक्षामें प्रथम आते रहे। अध्यापकसे पुरातत्त्व विभागके खोजी और अनन्तर अधिकारी नियुक्त होकर उनकी जीवन-परिपाटी एक नये ढाँचेमें ढल गयी। दादा संस्कृतके विद्वान् थे, लेकिन सम्पन्नताका लाञ्छन उन्होंने नहीं जाना, अत्यन्त विपन्नावस्थामें ही वह अपनी विद्याके कारण समाजमें प्रतिष्ठा पाते रहे। उनके दादा विपन्नतामें पीछे नहीं थे, और विद्यामें भी शून्यसे दूर न थे; बड़ोंसे सुना है कि जब उनकी मृत्यु हुई तब दाह-कर्मके साधन न थे और कई घरोंसे कौड़ियोंकी हँड़िया बटोर कर अन्त्येष्टि हो सकी थी। उससे पहलेकी चार-पाँच पीढ़ियों-में भी, जिनका पता है, सम्पन्न कोई नहीं हुआ; विद्यावान् कोई-कोई हुए, एक अपने पिताके श्राद्धके लिए पहोवा गये तो वहाँके पण्डितोंसे श्राद्ध-विधिके बारेमें उलझ पड़े और फिर असन्तुष्ट होकर गया गये, ऐसा पहोवेके पण्डोंकी बहियोंसे पता चला था।

ख़ैर, सक्षेप यह कि मध्यवित्त कहलानेकी पात्रता वास्तवमें पिताने उपार्जित की, या कह लीजिए कि दादाने पिताके कार्यारम्भके बाद। उससे पहले ज्ञात परम्परामें यह बोझ किसीने नहीं ढोया और कुछने तो विद्याका बोझ भी नहीं। किन्तु ब्राह्मणत्वका गौरव-भाव सभीमें यथेष्ट मात्रामें था ऐसा जान पड़ता है, और समझौता न कर सकना उसका एक आनुषगिक था। दादासे पहले पुरखा पौरोहित्य करते थे, पर पिताने 'दान न लेने'के सिद्धान्तको इतना उत्कट रूप दे दिया था कि जहाँ कुछ 'दिये गये' होनेकी बू भी हो वहाँ वह बदलेमें दुगुना दे कर शोध करते थे। जेलसे आनेके बाद मैं एक 'आश्रम' बनानेकी आदर्शवादी झोंकमें था; एक परिचितने उसके लिए ज़मीन और उसपर बनी हुई इमारत सुलभ कर दी थी। पितासे परामर्श करनेपर उन्होंने कहा, 'वह अगर भाड़ा लें, या लगान लेकर पट्टे पर दें, तो ठीक है; मुफ़्त दें तो न लो।' मेरे पूछनेपर उन्होंने कारण बताया, 'तुम वयस्क हो गये हो और सोच-समझकर जो करोगे उसमें बाधा देना नहीं चाहता, पर मैंने मन-ही-मन सोच रखा था कि मेरी कोई सन्तान

कभी दान नहीं लेगी....' ब्राह्मणोंका दान लेना उनके पतनका कारण रहा ऐसी उनकी दृढ़ धारणा थी; मुझमें ब्राह्मणत्वका कोई भाव नहीं है पर उनकी इस भावनाको मैं समझ सका और ब्राह्मणत्वसे अलग करके भी उसे आदर्शवत् अपने सम्मुख रखता रहा हूँ—कि यथा-सम्भव दानमे या 'मुफ़्त' कुछ नहीं लूँगा। यों सृष्टिमें जहाँ सभी कुछ अकारण और विना प्रतिदान चाहे मिलता है, वहाँ यह दम्भ-सा जान पड़ सकता है, किन्तु जो वास्तवमें उस स्तरपर जा या जी सकता है वह फिर इतना निस्संग भी होगा कि सभी कुछ उसी दाताको लौटा दे और हिसाब बेबाक करते समय रूँगेमें अपने-को भी झोंक दे—अर्थात् उसका लेना फिर दान लेना नहीं, ऋण लेना भर हो जाता है। पर साधारण जीवनके स्तरपर भी उद्योग यह रहा है कि जो पाऊँ उसके बदलेमें यथा-शक्य दूँ भी। जीवनका हिसाब बनियेका हिसाव नहीं है जिसमें देना-पावना प्रत्येक असामीके साथ अलग-अलग बराबर होना चाहिए, जीवनमें एकसे पाया हुआ दूसरेको देकर भी ऋण-शोध होता है यह मैं जानता हूँ। अभी वहाँ तक नहीं पहुँचा हूँ कि खाता मिलाकर देखने लगूँ कि क्या और देना है, पर इस बारेमें सतर्क हूँ कि अन्तमें यह स्थिति भले ही हो कि बहुत-सा ऋण विना चुकाया ही रह गया, यह न हो कि कुछको मैंने 'दान-खाते प्राप्त' मान लेनेकी भूल की हो और उसका प्रतिदान देनेकी बात ही न सोची हो....

थोड़ा बहक गया न? या कि बहुत बहक गया? उपसंहार कर दूँ: तबीयत रईसी है, लेकिन इस रईसीके पीछे जो संस्कार है, वह ब्राह्मणका है, वणिक्का नहीं। कुछ जोड़-जाड़कर मैंने नहीं रखा है, कुछ जमा नहीं किया है, जो देनेको था उसे कभी किसीको इनकार नहीं किया है, जो नहीं था उसका दुःख नहीं माना है। उत्तराधिकारमें पिताकी चल या अचल सम्पत्तिमें (अधिक तो उन्होंने भी नहीं जोड़ा, पर कुछ भूमि और घर तो थे ही, और सगृहीत पुराखण्ड और कला-वस्तुएँ इत्यादि) भागी होनेसे इनकार कर दिया था; जीवनका बीमा कराया था पर किस्तें कभी

समयपर नहीं दे पाता रहा अतः सब ज़ब्त हो चुकी हैं। घरमें साफ़-सुथरे ढंगसे रहता रहा हूँ, दो चार कला-वस्तुएँ भी आस-पास जुटा रखी हैं—पर उनकी प्राप्तिमें जो कुछ व्यय हुआ है उतना मुझे रईस कहकर कोसने और अपनेको सर्वहारा कहकर सराहने वाले अनेक अपने पान-सिगरेटमें फूँक देते हैं। और फिर यह है तो इसका सही उपभोग भी कर लेता हूँ; न होगा तो ज़रा भी खेद मुझे नहीं होगा—जिस भी स्तरपर रहूँगा साफ़-सुथरे संयत और तोषप्रद ढगसे रह लूँगा ऐसा मुझे भरोसा है।

लेकिन यह तो बताइये, लोगोंमें जो धारणा है उसका उनके पास क्या आधार है यह आप उनसे पूछते हैं? या वे अपने-आपसे पूछते हैं? या कि, क्योंकि मेरे विचार कुछ लोगोंको पसन्द नहीं हैं, और कुछ लोग राजनीतिक मताग्रहोंके कारण मुझे चुप कराना आवश्यक समझते हैं, इसलिए चाहे जो झूठा अपवाद मेरे बारेमें फैलाया जा सकता है?

प्रश्न ४ : आप कई भाई-बहिन हैं पर सबमें आपसमें वैसी गहरी आत्मीयता या गहन स्नेह-भाव नहीं लक्षित होता जो साधारणतया परिवारोंमें होता है। क्यों?

उत्तर : स्नेह-भाव लक्षित नहीं होता, यह तो शायद ठीक है। पर वह है नहीं, यह भ्रान्ति है। जैसा दूसरे परिवारोंमें होता है, वैसा प्रगल्भ प्रदर्शन आप हमारे परिवारमें नहीं पायेंगे। क्योंकि हम सबका बाल्य-काल अधिकतर वन-पर्वतों या देहाती प्रदेशोंमें बीता; सभीने स्वतन्त्र या आत्म-निर्भर स्वभाव पाया; प्रायः सभी किसी हद तक अन्तर्मुख हो गये—अर्थात् अनुभव अधिक करते हैं, भाव-प्रदर्शन कम। यह तो नहीं कहूँगा कि सब भाई-बहनोंमें एक-सा सौहार्द है—वह क्या 'साधारण' परिवारोंमें भी होता है? पर एक गहरे स्तरपर एक अव्यक्त और अमुखर बन्धन हमें बाँधे हुए हैं ऐसा मैं जानता हूँ। उतना ही काफ़ी भी समझता हूँ—क्योंकि

उतना शक्ति देता है, उससे अधिक जो होता है वह अवरोध करता है, व्यक्तिके विकासमें बाधक होता है।

प्रश्न ५ : आपके जीवनमें कभी ऐसे अवसर आये जब आपने कोई काम केवल भावनासे—जैसे स्नेहके दबावसे—प्रेरित होकर किया हो और बुद्धि या विवेककी प्रेरणा न मानी हो, या परिणामकी परवाह न की हो ?

उत्तर : पुराने ढाका शहरके गाडीवानोंकी एक कहानी सुनी थी—वहाँ शहरके किसी भागसे दूसरे भाग तकका गाड़ी-भाड़ा एक चवन्नी बँधा हुआ था और शहरके लोग कभी भाड़ा नहीं ठहराते थे। जब कोई पूछता तो गाड़ीवान समझ लेते कि बाहरका है, और मनमाने पैसे माँगते; गाहक कुछ भी कम बताता तो उसे अपदस्थ करनेके लिए कहते, 'धीरे बात करो, बाबू, घोड़ा सुन लेगा तो हँसेगा !' आपके सवालसे यह कहानी याद आ गयी, क्योंकि जो भी मुझे निकटसे जानते है सभी इस प्रश्नको सुनकर हँसेंगे—वे इसे ठीक उलटकर पूछते कि क्या मैंने कभी कोई काम बुद्धि अथवा विवेककी प्रेरणा मात्रसे किया, या भावनाके दबावको एक ओर रखकर, या कि परिणामका भी विचार करके ! जो कुछ भी करता हूँ उनके निकट वह भावुकताका ही परिणाम होता है—अविवेकी, उत्तर-दायित्वहीन, अव्यावहारिक, अदूरदर्शी। फिर वह चाहे नौकरी करना हो चाहे छोड़ना, पत्र निकालना हो अथवा बन्द करना, या—लेकिन और निजी बातोंको छोड़िए ही। और मैं समझता हूँ कि सचमुच अगर सोचने बैठूँ कि कौन-सा महत्त्वपूर्ण निर्णय मैंने भावनाको छोडकर शुद्ध तर्कके या विवेकके आधारपर किया था, तो शायद उत्तर नहीं पाऊँगा। इस समय भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्नपर विचार होता रहा है, तर्क-संगत उत्तर स्पष्ट है पर जब-जब प्रश्न सामने आया है मैंने यही कह दिया है कि 'आइ

एम नाट येट इमोशनली कन्विंस्ड'—वह निर्णय अभी रागके स्तरपर ग्राह्य नहीं हुआ है।

प्रश्न ६ : अपने जीवन या बचपनकी कुछ ऐसी घटनाएँ बताइये जिनका आपके जीवनपर गहरा असर पड़ा हो या जिन्होंने आपके आजके व्यक्तित्वको बनानेमें योग दिया हो ?

उत्तर : ऐसे प्रश्नका जवाब शायद सोच समझकर देना चाहिए। क्योंकि ऐसी तो बहुत घटनाएँ होंगी जिनका प्रभाव पड़ा, और उनमेंसे स्मरण भी बहुत-सी होंगी, पर क्योंकि बताते समय तो दो-एक ही चुननी होंगी और उस चयनपर तात्कालिक मनःस्थितिका प्रभाव पड़ेगा ही, इसलिए परिप्रेक्ष्य ग़लत भी हो सकता है। जैसे अभी सफ़ाई देनेवाले प्रश्नपर एक घटना याद आयी थी जो भूली नहीं, पर उसका महत्त्व कितना है क्या मैं ठीक-ठीक जानता हूँ ? मैं कोई छः वर्षका था जब बड़े भाइयोंके लिए गर्म सूट बनवाये गये थे। जब कच्ची सिलाईके बाद सूट फ़िटिंगके लिए लाये गये, तब मै भी खड़ा देख रहा था। सूटमें कोट और जोधपुरी ब्रीचेज़ थीं, और भाइयोंपर सूट खूब फब रहे थे, मैं मुग्ध-सा देख रहा था। माता-पिताने मेरे मुग्ध भावको लुब्ध-भाव समझकर पूछा कि क्या मैं भी बनवाना चाहता हूँ ? और मेरे उत्तर देनेसे पहले ही माताने कहा—'भाइयोंको देखकर हिर्स हुई होगी !' और पिताने उत्तर दिया—'होती ही है—बच्चा ही तो है।' मेरे कुछ कहनेसे पहले ही न केवल ईर्ष्याका आरोप मुझपर कर दिया गया है, वरन् उसे स्वाभाविक भी मान लिया गया है, इससे मुझे क्लेश हुआ। मैंने गम्भीरतासे कहा कि 'मुझे नहीं बनवाना है', तो उसे झेंप समझा गया, और इसपर आँखोंमें आँसू आ गये तो उससे यह प्रमाणित ही मान लिया गया कि ईर्ष्या थी। मेरे इनकार करते रहनेपर भी सूटका नाप दे दिया गया और जब भाइयोंके कपड़े बनकर आये तब साथमें मेरा भी सूट था। वैसे कपड़े पहनकर मुझे

प्रसन्नता न होती यह नहीं कह सकता, पर उन कपड़ोंको पहनकर नहीं हुई क्योंकि ग़लत समझे जाने की कसक अभी थी; उसपर जब कहा गया कि '.गुस्सा अभी बना हुआ है कि मेरे लिए भी पहले ही क्यों नहीं आर्डर दिया गया था,' तब अन्यायकी भावना और तीखी हो गयी। उन सूटोंमें सब भाइयोंने साथ बैठकर फ़ोटो खिचाया था जो अभी है, इतना तो है, पर उस अवसरके बाद वह सूट मैंने फिर पहना हो ऐसा याद नहीं पडता। फिर तो बहुत जल्दी ही वह छोटा भी पड़ गया और दो-एक बरस बाद किसीको दे दिया गया....

कुछ घटनाएँ ऐसी हैं जो यत्किञ्चित् साधारणीकृत रूपमें उपन्यास-कहानियोंमें आ गयी हैं—उनका यहाँ ब्यौरा नहीं दूँगा। जैसे झील, नदी, समुद्रमें डूब जानेकी घटनाएँ: तैरना न जानते हुए भी तैराकीकी लय-युक्त गतिसे मुग्ध होकर पानीमें कूद पड़ा था और डूब गया था, फिर बेहोशीकी हालतमें निकाला गया। लय-युक्त गतिका आकर्षण अब भी कम नहीं है: खेतोंमें हिरनोंकी कूद, या झारखण्डमें शशोंकी फलाँग—इससे भी अधिक सुन्दर कुछ होता है यह सहज नहीं मान पाता: सोचता हूँ कि 'डार हिरनोंकी बरसातमें' या कि 'पकी ज्वारसे निकल शशोंकी जोड़ी गयी फलाँगती' घण्टों देखता रह सकता तो भी न ऊबता—यों इनके दृश्य कुछ क्षणोंमे ही चुक जाते हैं....

एक बार जिन दिनों गोली चलानेका अभ्यास कर रहा था, एक सुन्दर पहाड़ी पक्षीपर पिस्तौलसे फ़ायर किया था। उससे पहले बन्द जगहोंमें इतना अभ्यास कर चुका था कि दस क़दमकी दूरीसे दीवारपर दौड़ती हुई मकड़ीका निशाना लगा लूँ, या ताशके पत्तेका एक-एक चिह्न अलग-अलग भेद दूँ। पर चिड़िया बड़ी होनेपर भी दूर थी, पिस्तौलका निशाना उतने फ़ासलेपर पक्का नहीं होता। गोलीसे उसका डैना और टाँग टूट गयी, चिड़िया चीखती और एक टाँगपर उचकती हुई दौड़ती रही, और पीछे-पीछे मैं कि अब जैसे भी हो उसके—और उसकी चीख़ोंसे

अपने—क्लेशका अन्त कर दूँ। न जाने कितना दौड़ा हूँगा, वह भी सीधा नहीं, न खुलेमें। कोई डेढ़ घण्टे बाद वह चिड़िया एक कँटीली झाड़ीमें घुस गयी और उसमें फँस गयी। मैं न उसके भीतर घुस पाता था न छोड़कर ही जा सकता था, और मेरी पास आनेकी कोशिशसे डरकर वह और छटपटाती थी और उलझकर चीख़ती थी। मैंने एक फ़ायर और भी किया, पर जानता था कि वह व्यर्थ होगा—उस झाड़ीमे उतनी हल्की गोली चिड़िया तक पहुँच ही नहीं सकती थी। जैसे-तैसे मै भीतर घुसा ही, पास पहुँचकर मैंने उसका अन्त कर दिया और बाहर निकलकर ही मुझे ध्यान हुआ कि मैं भी कम लहू-लुहान नहीं हूँ···अब भी कभी उस चिड़ियाकी याद आती है तो मन-ही-मन उससे क्षमा माँग लेता हूँ···

कालेजके प्रोफ़ेसरने मानव-मात्रपर विश्वासकी जो सीख दी थी—इस घटनाका वर्णन **'अरे यायावर रहेगा याद ?'** में 'किरणोंकी खोज' वाली यात्रामें है—उसे भी जीवनकी महत्त्वपूर्ण घटना और प्रभाव मानता हूँ, यद्यपि वह बाल्य-कालकी तो नहीं है।

कालेजसे अपनी बी० एस-सी० की परीक्षा मैंने बीमारीमें दी थी—मुझे टाइफ़ायड ज्वर था। केवल पहला परचा मैंने अपने हाथसे लिखा था, अन्य परीक्षाओंके लिए लिपिक माँगा था। छः छः घण्टेकी प्रयोग-सम्बन्धी परीक्षाएँ भी आराम-कुर्सीमें लेटे-लेटे दी थीं। डाक्टरने चारपाईसे हिलने-डुलनेसे भी मना किया था, परीक्षामे पोज़ीशनके मोहमे मैंने भी प्रायः तै कर लिया था कि एक वर्षके लिए छोड़ दूँ, और डाक्टरने तो यह भी कह दिया था कि 'या तो तुम परीक्षाका मोह छोडो या मुझे कहो कि मैं तुम्हारा मोह छोड़ूँ।' पर एक सहपाठीने, जिसने मेरी बड़ी शुश्रूषा भी की, मुझे समझाया कि मैं परीक्षा अवश्य दूँ। आवश्यक होगा तो वह कन्धेपर उठा कर मुझे परीक्षा-गृहमें ले जायगा·····'और जहाँ तक पोज़ीशनका प्रश्न है—यह कौन कह सकता है कि एक साल टाल जानेसे ही कोई गारण्टी मिल जायगी—अगले साल उस समय हैज़ा हो गया तो ?' या हैज़ा न सही,

हालमें जाते-जाते पैर फिसलकर टाँग टूट गयी या गहरी मोच ही आ गयी तो ? जो हो, उसकी, और अपने भौतिक-शास्त्रके आचार्य ('किरणोंकी खोज' वाले गुरु ही) की दौड़-धूपसे ही मुझे लिपिक रखकर परीक्षा देनेकी अनुमति मिली; और मेरा सहपाठी प्रतिदिन मेरे साथ परीक्षाभवन तक जाता और वहाँसे मुझे लिवा लाता रहा। वह बी० ए० का छात्र था, अतः उसके परचे अन्य दिन होते थे—पर यह बादमें पता चला कि उसने परीक्षा दी ही नहीं। मुझे बड़ी ग्लानि हुई कि मेरे कारण उसने यह किया, पर उसका कहना था कि उसने स्वतन्त्र रूपसे यह निर्णय पहलेसे कर रखा था क्योंकि पास तो वह हो ही नहीं सकता था। और यह जान-कर ही वह पुलिसके लिए इन्टरव्यूमें भी जा चुका है····

यह ठीक था कि उसके पास हो सकनेकी आशा किसीको नहीं थी—मुझे भी नहीं। यह भी ठीक है कि अपना परीक्षा-फल जाननेसे पहले ही मुझे सूचना मिल गयी कि वह पुलिसमें भरती हो गया है और ट्रेनिंग ले रहा है। हॉकीका वह अच्छा खिलाड़ी था—कालेज और विश्वविद्यालय दोनोंकी टीममें (और अनन्तर प्रान्तकी टीममें) रहा, यह पुलिसके लिए अतिरिक्त योग्यता थी····

मेरे ऋणकी कहानी यहीं समाप्त नहीं होती। क्रान्तिकारी दलमें आकर मैं अमृतसरमें छिपकर रहता था, तब पुलिसकी सरगर्मी वहाँ बहुत बढ गयी थी क्योंकि कई षड्यन्त्रकारियोंके वहाँ होनेकी सूचना पुलिसको थी—और ठीक ही थी। हम लोग एक-एक, दो-दो कर वहाँसे हट रहे थे। एक दिन अपने दो साथियोंको गाड़ीमें बिठाकर गाड़ीके चले जानेके बाद (पुलिसका कुछ अतिरिक्त प्रबन्ध देखकर यही ठीक समझा था कि गाड़ीके चले जाने तक रुकूँ ताकि निश्चिन्त लौट सकूँ) मैं प्लेटफ़ार्मसे पुलकी ओर मुड़ा ही था कि सामने एक वर्दीधारीसे लगभग टकरा गया। उससे आँखें मिलते ही एक बिजली-सी दौड़ गयी। थानेदारकी वर्दीमें मेरा सहपाठी सामने खड़ा था। क्रान्तिकारियोंकी खोजके लिए

जिनकों विशेष रूपसे नियुक्ति हुई थी उनमें वह भी था। वही पहले बोला—तीखे फुसफुसाते स्वरमें—'मैंने तुम्हें अभी पहचाना कहाँ है—दो मिनट दूँगा।' फिर बदले हुए स्वरमें—'भाई माफ़ करना—मैं ज़रा जल्दीमें हूँ—' और आगे बढ़ गया।

दो मिनट मेरे लिए काफ़ी थे। मैं बाहर जा चुका था जब सीटियाँ बजने लगीं और स्टेशनकी नाकाबन्दी होने लगी।

जीवनमें अकारण बहुत-सा मिलता है। वह अकारण होता है इसलिए उसे ग्रहण कर सकना भी आसान तो नहीं होता। न अंगीकार भारी हो, न उसके लिए कृतज्ञ-भाव बोझ जान पड़े, ऐसा दैव-कृपासे ही मिलता है। उस आयाममें 'दान न लेने' की बात कोरा अहंकार है। मुझे बहुत मिला है, और कैसे कहूँ कि वह अकारण नहीं है? मेरी जन्म-पत्रीमें लिखा है कि 'मेरे शत्रु बहुत होंगे, पर मित्रके सिवा कभी कोई कुछ क्षति नहीं कर सकेगा।' तो थोड़ेसे मित्रोंकी अकृपासे आहत होकर यह क्यों भूल जाऊँ कि अनेक शत्रुओंके आघातोंसे भी उसी एक व्यापक करुणा द्वारा बचा लिया गया हूँ? ग्रह-फलकी बात नहीं कहता—ग्रह स्वयं क्या कम विचारे होंगे कि एक दूसरे ग्रहपर जीने-मरनेवाले कोटि-कोटि प्राणियोंकी बेचारगीमें हेर-फेर करनेकी स्पद्र्धा करें!—जीवनके उतार-चढ़ावके प्रति एक दृष्टि की ही बात कहता हूँ। दुनियामें बहुत कुछ बदलना चाहता हूँ, कुछ उखाड़-पछाड़कर भी; पर जीवनके प्रति मेरा बुनियादी भाव आक्रोशका नहीं है। जीवन एक विस्मयकर विभूति है, और मानवीय सम्बन्ध और भी विस्मयकर।

लाहौरमें जब कालेजमें पहुँचा, तब तक साइकल चलाना नहीं जानता था। कभी मौक़ा ही नहीं हुआ, जंगलोंमें पैदल चलनेके ही अवसर अधिक मिलते रहे और छः वर्षकी आयुमें ही जम्मूसे बनिहालके रास्ते—यह बनिहालकी सड़क बननेके पहलेकी बात है, जब सुरंग नहीं थी और पीर पंचालकी श्रेणीको ऊपर बर्फ़परसे पार करना होता था—श्रीनगरकी पैदल

यात्रा की थी—ऊधमपुरसे वैरीनाग तक पैदल, बाक़ी ताँगेमें। कालेजके लड़के साइकलोंपर कम्पनी बाग़ जाया करते थे—पढ़ाई करने। बाग़में पढ़ाई कैसे होती है यह मैं अब तक नहीं जानता, पर कभी-कभी साइकलपर किसीके पीछे बैठकर चला जाया करता था। एक दिन एक सहपाठीके साथ था जो डील-डौलमें मुझसे बहुत छोटा था; किसीने आवाज़ कसी कि 'इतने बड़े आदमीको शर्म नहीं आती, एक लड़का साइकलपर बिठाकर घसीटे लिये जा रहा है!' बाग़में पहुँचकर मैंने साथीको तो पढ़ने छोड़ा और साइकल लेकर चलाना सीखने लगा। दो-चार बार गिरा, पर ठान लिया था कि बाग़से लौटूँगा तो साइकल स्वयं चलाता हुआ। शामको वही किया भी, राहमे दो-एक जगह लड़खड़ाया या इधर-उधर टकराते बचा, एक आध फटकार भी सुनी कि 'क्या साइकल चलाना नहीं आता?' पर बाग़से होस्टल साइकल चलाता हुआ ही गया।

इसके बाद अभ्यास बढ़ानेके लिए कई बार कम्पनी बाग़ गया। मेरा तो बी० एस-सी० का पहला वर्ष था, और कालेजकी वार्षिक परीक्षाका कोई डर मुझे नहीं था, पर दूसरे वर्षके लोगोंके साथ-साथ चला जाता था और अधिकतर साइकल चलाता था, कभी-कभी पाठ्यक्रमकी कविताएँ आदि पढ़ने बैठ जाता था।

दूसरे कालेजोंके लड़के भी आते थे। सब पढ़ने नहीं आते थे, कुछ तो केवल पढ़नेवालोंको सताने आते थे। इनमें मुख्य था लॉ कालेजका एक लड़का जो विद्यार्थीसे अधिक गुण्डा प्रसिद्ध था। चार-पाँच वर्ष बी० ए० में लगाकर वह कुछ वर्षोंसे एल-एल० बी० में था; हर वर्ष परीक्षा देकर 'पुनस्तत्रैव वैताल:'। उससे सभी डरते थे क्योंकि उसका मुख्य काम दूसरोंको तंग करना और जब-तब मार-पीट कर बैठना था। यों भी वह हट्टा-कट्टा था, और कालेजमें नियमित रूपसे पहलवानी भी करता रहा था।

मैं लाहौरमें नया था, उसे नहीं जानता था। नाम सुन रखा था,

बस। कम्पनी बाग़में एक दिन एक आदमी हम दो-तीन लड़कोंसे कुछ दूर बैठकर शोर मचाने लगा; हम लोग चुप-चाप उठकर दूसरी जगह चले गये तो थोड़ी देर बाद वहाँ भी आ गया। साथी तो चुप रहे, मैंने उसे डाँट दिया कि 'ख़ुद नहीं पढ़ना है तो दूसरोंको तो पढ़ने दो!'

वह अपने आपसे बोला—'अच्छा भई, पढ़नेवालोंको पढ़ने दो—अच्छा हम भी बैठकर पढ़ ही लें।' फिर उसने एक किताब निकाली। थोड़ी देरमें सुना, वह बड़े ज़ोरसे क़ानूनकी धाराएँ रट रहा है। लेकिन चुन-चुन कर वे धाराएँ जो बलात्कार, अप्राकृतिक मैथुन, आदि अपराधोंसे सम्बन्ध रखती हैं। अबकी बार मैंने क्रुद्ध होकर कहा—'पढ़ना हो तो चुप-चाप पढ़ो नहीं तो अच्छा नहीं होगा।'

वह बोला—'ओ-हो। क्या कर लेंगे, बादशाहो?' और कुछ और ज़ोरसे पढ़ने लगा।

मैंने कहा—'तुम मार खाओगे।'

वह बोला—'इसीलिए तो तरस रहा हूँ।' और उठकर तैयार हो गया।

क्षण ही भर बाद हम गुत्थम-गुत्था हो गये। मेरे साथी आस-पास आकर खड़े हो गये। उनके चेहरेपर आतंक ही अधिक था, यद्यपि उनकी सहानुभूति निस्सन्देह मेरे साथ थी। यों भी कालेजके लड़के द्वन्द्व-धर्मका जो अलिखित नियम मानते हैं—जो यूथके धर्मके समान्तर चलता है!—उसके अनुसार उनके हस्तक्षेपकी गुंजाइश कम-से-कम अभी तक न थी....

मैं ऐसा दुर्बल नहीं था, पर बचपनमें सीखे हुए दाव-पेंचसे आगे कुछ जानता ही नहीं था। उसने मुझे पटक दिया। पर यह कोई दंगली कुश्ती तो थी नहीं कि पीठ छू जानेसे हार हो जाय। मेरे हाथ मुक्त थे, मैंने उसके लम्बे-लम्बे बाल दोनों पंजोंमें पकड़कर बड़े ज़ोरसे उसके माथेपर टक्कर मारी। मेरी खोपड़ी कोई विशेष मोटी हो ऐसा तो नहीं जानता, पर शस्त्रवत् उसका उपयोग बचपनसे करता रहा था, और उसकी शक्ति

जानता था। उधर उसे शायद ऐसा अनुभव पहली बार हुआ। क्षण-भरके लिए सिर मेरा भी भन्ना गया, पर उसे जो तारे दीखे तो घूमते ही चले गये; वह लुढ़ककर एक ओर गिरा और मैं उसकी छातीपर चढ़ बैठा। होशमें आनेसे पहले ही मैंने उसे अच्छी तरह थपड़िया दिया, और फिर औंधाकर उसकी नाक अच्छी तरह ज़मीनपर रगड़ दी। ग़ुस्सा मुझमें नहीं था यह तो नहीं कहूँगा, पर कोई विशेष बदसलूकी करनेकी भावना भी नहीं थी, जो कुछ किया वह प्रतिहिंसासे उतना नहीं जितना कुछ इस भावसे कि वह करणीय है। आस-पास खड़े लड़के भी अब तक सँभल कर जो बढ़ावे और सुझाव देने लगे थे, वे भी इसके अनुकूल ही थे।

थोड़ी देर रुकनेपर जब वह उठा, तब उसे दो तमाचे और लगाकर और यह कहकर कि 'अब और ज़रा ज़ोर-ज़ोरसे क़ानून पढ़ना!' हम लोग दल बाँधकर लौट गये। लेकिन हमसे पहले हमारे कालेजमें ही नहीं, दूसरे कालेजोंमें भी यह समाचार पहुँच चुका था कि अमुक गुण्डेको फ़ार्मेन कालेजके एक लड़केने पीट दिया····दूसरे दिनसे दो-चार दिन तक अन्य कालेजोंके लड़के देखने भी आते रहे—दूरसे देखते, इशारेसे बताया जाता, फिर चले जाते····मेरे लिए यह बहुत ही क्लेशकर हो जाता, पर शीघ्र ही परीक्षाकी छुट्टियाँ हो गयीं, और फिर ग्रीष्मावकाश, और फिर बात आयी गयी हो गयी। इसलिए और भी कि मेरे प्रतिद्वन्द्वीकी गुण्डा-गिरी समाप्त हो गयी और उसी वर्ष उसने वकालतकी परीक्षा भी पास कर ली। वकील वह नहीं हुआ, सिनेमा एक्टर हो गया, खल-नायककी भूमिका में प्रसिद्ध भी हुआ, लेकिन दस-ग्यारह वर्ष बाद जब कलकत्तेके एक स्टूडियोमें उससे फिर साक्षात्कार हुआ तब उसकी हल्की मुसकराहटमें गुण्डई बिलकुल न थी, एक अनुभव-दग्ध विषादका ही भाव था।···

मैं चुप्पा प्रसिद्ध हूँ—या धीरे बोलना आभिजात्यके अहंकारका लक्षण बताया जाता है। बात-चीत कम करना तो जीवनकी परिस्थितियोंमें स्वाभाविक था—बोलनेका अभ्यास इतना कम था कि लगातार थोड़ी

देर बोलता रहूँ तो मुँह दुखने लगता था। पर बचपनमें कभी-कभी गा-गुनगुना लेता था। शायद तीन या चार वर्षका था जबकी बात है : मैं शौचालयमें था और वहीं आत्म-विस्मृत भावसे गा रहा था :

'कोई किसीमें मगन, कोई किसीमें मगन,
जिसमें लगी हो लगन, सच्चा उसीमें मगन'

यह गाना घरमें सुन रखा था—शायद बड़ी बहनकी संगीत-शिक्षाका अंग रहा था। अचानक मेरा मोह टूटा : मेरा गाना बाहर सुना गया था और बाहर एक हँसता हुआ स्वर मेरी नकल उड़ा रहा था—'कोई किसीमें मगन, कोई किसीमें मगन, सच्चा टट्टीमे मगन'····मैं जल्दीसे निवृत्त होकर चुप-चाप चला आया, पर यह बात और इसके साथकी हँसी कई दिनों तक मेरा पीछा करती रही। वर्षों बाद भी, जब किसी भी काममें मेरी असाधारण तन्मयताकी ओर किसीका ध्यान जाता था तब (चाहे उसकी प्रशंसाके निमित्त ही) पूछा जाता था—'सच्चा उसीमें मगन ?' क्योंकि बातका सन्दर्भ मुझे ज्ञात था, अतः 'उसी'के स्पष्टीकरण की कोई आवश्यकता नहीं थी, मुझे चिढानेके लिए इतना ही काफ़ी था।

अनन्तर एक वाद्य सीखनेका यत्न किया था—जब पहले-पहल उसकी सुविधा मिली थी। बेलाका स्वर मुझे विशेष प्रिय है, अतः वही सीखना प्रारम्भ किया था। गुरु महाराष्ट्रीय थे—गुणी परन्तु रूखे स्वभावके। एक दिन बेला लिये उनके घरकी सीढ़ियाँ चढ़ रहा था कि उन्हें मुझसे पहले आनेवाले विद्यार्थीको डाँटते हुए सुनकर ठिठक गया। 'तुम्हें कभी कुछ नहीं आनेका !' वह कह रहे थे, 'एक तुम्हें, और एक उस वात्स्यायनको।'

मैं थोड़ी देर चुप-चाप वहीं खड़ा सोचता रहा कि मुझे क्या करना चाहिए। नहीं कहूँगा कि गुरुकी वाणी ही फलवती हुई : पर संगीतमें अभी तक बिलकुल कोरा हूँ। उस दिन लौटकर बेला रख दिया सो रखा

ही रहा, उसके तार कीड़े खा गये और अनन्तर लकड़ी भी सूखकर चटक गयी। सुननेका शौक़ बहुत है, पर कोई पूछता है कि 'संगीतमें रुचि है या नहीं ?' तो हाँ कहते झिझक जाता हूँ....

और भी घटनाएँ जानना चाहेंगे ? पर अब तक आप अपने प्रश्नपर पछता उठे होंगे। घटनाएँ तो बहुत हैं जो याद आती हैं, और एकान्तमें रहनेसे उनका विश्लेषण करनेका अवसर भी काफ़ी मिलता रहा है...पर आत्म-कथा तो नहीं कहने बैठा हूँ। मानवेन्द्रनाथ रायसे किसीने आग्रह किया था कि आत्म-कथा लिखें, तो उन्होंने हँसकर टाल दिया था : 'नहीं, मेरा अहं इतना प्रबल नहीं है !' इस मामलेमें उनका अनुयायी हूँ।

प्रश्न ७ : आपने बहुधा ऐसे लोगोंके साथ मिलकर काम किया है जो रुचि, विचारों या प्रवृत्तियोंकी दृष्टिसे आपसे बिलकुल भिन्न या विपरीत भी रहे। फिर कामके समाप्त होनेके बाद स्वभावतया उनका-आपका कहीं किसी प्रकारका साथ भी नहीं रहा। ऐसा करना अवसरवादी होनेसे किस प्रकार भिन्न है ?

उत्तर : निस्सन्देह मैंने बहुतसे काम ऐसे लोगोंके साथ, या ऐसे लोगोंको साथ लेकर किये हैं जो मुझसे भिन्न रहे। क्यों नहीं करूँ ? मैं मानता हूँ कि सभी परस्पर भिन्न होते हैं, और यह भी मानता हूँ कि सबको एक-सा बनाना चाहना ग़लत है—चाहे अत्याचार होकर ग़लत, चाहे मूर्खता होकर ग़लत। अगर अपनेसे भिन्न लोगोंके साथ सहयोग करना अवसरवादिता है, तो फिर लोकतन्त्र क्या है ? और अगर केवल अपने मतके लोगोंके साथ ही सहयोग होना सिद्धान्तवाद है, तो यह मत-स्वातन्त्र्यके साथ कैसे मेल खाता है ?

अवसरवादिता तब होती है जब अवसरसे लाभ उठानेके लिए सिद्धान्तोंको ताकपर रख दिया जाय। मैंने वैसा नहीं किया, दूसरोंका

सहयोग लिया है तो ऐसे ही कामोंमें जिन्हें मैं सही मानता था। और लाभ भी विशेष नहीं उठाया—बल्कि दण्ड ही अधिक पाता रहा हूँ, जिनमें ग़लत समझा जाना, स्वयं सहयोगियोंका निराधार विरोध पाना और झूठे प्रचारका शिकार होना भी गिनाये जा सकते हैं। फिर भी मुझे सन्तोष है कि मैंने कुछ काम अच्छे और उपयोगी किये—और उनमें ऐसोंका भी सहयोग पा सका जो मुझे सहयोग न देते पर मेरे कामको देनेको बाध्य हुए क्योंकि काम अच्छा था। कुछने अगर इसलिए सहयोग किया कि वे लाभ उठा लें और फिर विरोध भी करें, तो इस अवसरवादिताका जवाब आप उनसे तलब कीजिए, मुझे उससे क्या ?

प्रश्न ८ : आप जो कुछ करते रहे हैं उसमें परस्पर विरोध दिखाई देता रहा है, जैसे क्रान्तिकारी होना और फिर स्वाधीनता आन्दोलनके समय सेनामें भरती होना। इसे आप कैसे संगत मानते हैं? देशके स्वाधीन होनेके बाद देश-प्रेमके नामपर आपने क्या किया है ?

उत्तर : जो करता हूँ, उसमें अन्तर्विरोध हो नहीं, यह मैं चाह सकता हूँ। दीखे नहीं, यह अपने आपमें कोई इष्ट तो नहीं है। स्वयं सामंजस्य पाऊँ, यह अपनी शान्तिके लिए आवश्यक है; दूसरोंको भी सामंजस्य दीख जाय यह अतिरिक्त उपलब्धि है, जिसे जीवनके अप्रत्याशित विस्मयोंमें गिनना चाहिए।

लेकिन क्रान्तिकारी होनेमें, और सन् १९४३ में सेनामें भरती होनेमें ऐसा दीखनेवाला विरोध भी क्या है ? आपने अगस्त १९४२ की हलचल को ही स्वाधीनता-आन्दोलन मान लिया, क्या यही भूल नहीं है ? उस समय स्वाधीनताके लिए कई प्रकारकी कार्रवाइयाँ हो रही थीं जिनमें 'भारत-छोडो' आन्दोलन भी एक था। और मैं कहूँ कि सैनिक आक्रमणसे भारतकी रक्षा भी स्वाधीनता-आन्दोलनका एक और पक्ष था। 'हमने युद्ध आरम्भ नहीं किया, हम उसमें भागी नहीं हैं, भारतको उसमें भारत

की इच्छाके विरुद्ध, या उसकी राय लिये बिना झोंक दिया गया'—इन सब बातोंको मानकर भी प्रश्न रह जाता था कि भारतके सीमान्तपर आक्रमण होनेपर क्या किया जाय ? एक मत यह था कि कुछ न किया जाय, अवि-रोधकी नैतिक शक्तिसे ही विजय मिलेगी। एक मत यह था कि जापा-नियोंके सहयोगसे भारतको मुक्त किया जा सकेगा—और इसके लिए एक सेना छोड़कर दूसरीमें जा मिलना भी बुरा नहीं है बल्कि अनुमोदनीय है। तीसरा मत यह था कि अंग्रेज़से अपना संघर्ष इन्हीं दो प्रतिपक्षियों तक रहना ठीक है, और कोई भी नया आक्रान्ता भारतका हितैषी नहीं होगा इसलिए जैसे भी हो भारतकी रक्षा करनी चाहिए। मैं इस मतका था। उससे पहले जो करता था, उसमें और इसमें कोई विरोध नहीं देखता था, और यह भी देखता था कि कोई काम अगर कर-णीय है तो मुझे केवल इसलिए उसे दूसरेके ज़िम्मे नहीं छोड़ना चाहिए कि वह 'घटिया' काम है या जोखमका है, या कि मुझे प्रीतिकर नहीं है। सैनिक कर्मको मैं उच्च कोटिका मानव-कर्म न समझता था, न अब समझता हूँ, (न क्रान्तिकारी आन्दोलनकी सदस्यताके समय समझता था,) न मैं यह मानता था कि वह मेरे लिए या मैं उसके लिए उपयुक्त हूँ। पर आपत्कालमें उसे करना ग़लत भी नहीं मानता था—उस दशामें और भी नहीं जब कि इतने कम लोग उसे करनेको तैयार थे। (और उसे न करने मात्रसे यश भी मिलता था, आराम भी, और जोखम-से बचाव भी !) *

मैं यह नहीं मानता था कि जापानियोंका सहयोग हमें स्वाधीनता दिलायेगा। अब भी नहीं मानता कि वे अगर भारत तक बढ़ आये होते तो अच्छा हुआ होता। स्वाधीन हम उसके बाद भी हुए होते—और सेनामें

*** इस सन्दर्भमें देखिए अगले शीर्षक—'अंशदान' के अन्तर्गत पहला पत्र।**

मैं जो कुछ कर रहा था उसका एक अग यह भी था कि यदि जापानी पूर्वी भारतमें आ ही गये तो उसके विरुद्ध सैनिक सम्पर्कके साथ जनाश्रित विरोधका बुनियादी संगठन कर रखा जाय, जैसा कि यूरोपके विभिन्न रेज़िस्टैंस आन्दोलनोंमें हुआ था—पर ऐसा मै अब भी नहीं मान सकता कि उस अवस्थामें हमारी स्वाधीन स्थिति आजकी स्थितिसे अच्छी होती। बल्कि मैं समझता हूँ कि तब हमारी एकताको अधिक आघात पहुँचा होता—विघटनशील शक्तियाँ आजकी अपेक्षा अधिक क्रियाशील होतीं और केन्द्रापसारी प्रवृत्तियाँ अधिक प्रबल। मै कोरी सम्भावनाकी बहसमें नहीं पड़ना चाहता, और राजनीतिक विवादोंसे इस प्रश्नोत्तरको दूर ही रखना चाहता था, पर मेरी पक्की धारणा है कि उस दशामें हमारी दशा अबसे बदतर, दुर्बलतर और अधिक चिन्ताजनक होती। हमसे और पूर्वके हमारे पड़ोसी देशोंमें जैसी स्थितियाँ आयी हैं, वैसी ही यहाँ भी आयी होतीं या आ रही होतीं—और जहाँ आज हम उन्नतिकी योजनाएँ बना रहे हैं, वहाँ अस्तित्व-रक्षाका प्रश्न ही हमारे लिए सर्वोपरि हो गया होता।

प्रश्नका दूसरा भाग और भी भ्रान्ति-मूलक है। आपही से पूछूँ कि आपने विश्वविद्यालयकी परीक्षा पास करनेके बाद आत्म-शिक्षणके नामपर क्या किया है, तो आप क्या उत्तर देंगे? क्या इसलिए मान लेना होगा कि आपके विद्यार्थी जीवन और बादके जीवनमे विरोध है? तुलना एकांगी है—सभी तुलनाएँ अनुपयुक्त होती हैं, पर प्रश्नका अनौचित्य इससे शायद दीख सके····

या यदि किसी प्रौढ़ विवाहित व्यक्तिसे पूछें कि उसने विवाहके बाद पत्नी-प्रेमके नामपर क्या किया है तो वह क्या उत्तर देगा? कि सन्तान उत्पन्न की है? (जैसे मन्त्रित्व या संसद्की सदस्यता पायी है, या ठेके, या अनुदान, या राजकीय सम्मान!) या कि पत्नीके लिए चूड़ियाँ बनवा दी है, या उसे सिनेमा दिखा लाया हूँ (जैसे डेलिगेशनोंमे विदेश-यात्राएँ!)।

प्रेमके नामपर कुछ भी करना प्रवंचना है। प्रेम है, सो है; नहीं है तो नहीं भी है। प्रेम न होते भी प्रेमके नामपर बहुत कुछ किया जा सकता है और किया जाता है—और श्लाघित भी हो जाता है।

ये सब सतही बातें हैं। व्यक्तिमें भी, और उससे भी अधिक कलाकारमें, जिस संगतिकी अपेक्षा होती है वह इनसे सिद्ध या असिद्ध नहीं होती क्योंकि ये उसकी कसौटियाँ ही नहीं हैं। और मान ही लीजिए कि किसीके कर्ममें कुछ परस्पर-विरोधी आप पाते हैं, और वह केवल कर्ममें नहीं, कर्त्ताकी चेतनामें भी पाया जाता है, तो उससे भी क्या सिद्ध हो जायेगा ? वाल्ट ह्विटमैन वाला उत्तर* देनेकी ज़रूरत नहीं है, पर क्या अन्तर्विरोधका होना पाप है ? या अपराध है ? या अपात्रता है—जीनेकी, समाजमें रहनेकी, लिखनेकी, कला-कृतित्वकी ? या कि उससे उन्नति करने और अन्तर्विरोधको हल करने, या उसका प्रयत्न करनेका अधिकार छिन जाता है ? कोई संघर्ष मेरे भीतर नहीं है, ऐसा मैं नहीं कहता, न उत्कंठित हूँ कि जल्दी उस अवस्थामें पहुँच जाऊँ जहाँ ऐसा कह सकूँ। इतना अवश्य है कि जो उदाहरण आपने दिया है, उसीसे कोई अन्तर्विरोध प्रमाणित नहीं होता—बल्कि कोई बाहरी विरोध भी वास्तवमें उसमें नहीं है। यह भी है कि प्रायः जैसी बातोंको लेकर हिन्दी जगत्में छीछालेदर हुआ करती है उनका आधार इससे भी उथला हुआ करता है। अन्तर्विरोध का होना, या लक्षित होना, अपने आपमें बहुत बड़ा नकारात्मक तर्क है, ऐसा कोई साहित्यालोचक भी कैसे मान सकता है मेरी समझमें नहीं आता, और कृतिकार या कविके सम्मुख तो यह भावना ही न होनी चाहिए थी—सुनी हुई बातोंके प्रभावके कारण भी नहीं !

---

* **आई कांट्रेडिक्ट माईसेल्फ़ ?**
वेरी वेल, आई कांट्रेडिक्ट माईसेल्फ़
आई एम वास्ट, आई कंटेन मल्टिट्यूड्स…'

प्रश्न ९ : कम्युनिस्टोंके विरोधी आप कबसे हुए ? क्या आप अमेरिकी विचारधाराको मानते हैं ? यदि मानते हैं तो सैद्धान्तिक रूपसे या कम्युनिस्टोंकी विरोधी विचार-धारा होनेके कारण ?

उत्तर : कम्युनिस्टोंका विरोधी मैं नहीं हुआ। मेरे विरोधी अधिकतर कम्युनिस्ट हुए तो वे जानें। कम्युनिज़्म मुझे पसन्द नहीं है, यह ठीक है। राजनीतिमें वह आततायी हुआ है, दर्शन वह अधूरा और पंगु बनानेवाला है। और भारतीय कम्युनिज़्म क़दम-क़दमपर देश-विरोधी और परदेश-निर्देशित सिद्ध हुआ है। मैं व्यावहारिक राजनीतिक नहीं हूँ, न होना चाहता हूँ, पर राजनीतिके सम्बन्धमें मेरे कोई विचार न हों ऐसी लाचारी नहीं मानता। जो हैं उन्हे नागरिकके नाते यथा-समय व्यक्त भी करता हूँ। पर मै एक विचार रखता हुआ दूसरेको दूसरा विचार रखनेकी स्वतन्त्रता देनेका कायल हूँ, इसलिए किसी मतवादको न मानकर मैं मतवादीका विरोधी होना ज़रूरी नहीं समझता, और उसे कलंकित करना तो बिल्कुल नहीं। कम्युनिस्ट क्योंकि ऐसी स्वतन्त्रताको दिमाग़ी ऐय्याशी समझते हैं, और साधनकी शुद्धताको महत्त्व नहीं देते या कि व्यावहारिक परिणामवादी होकर सभी फलप्रद साधनोंको शुद्ध मानते हैं, इसलिए वे मतवादीका भी विरोध करते हैं, और उसे जैसे-तैसे लांछित करने या करवानेको न्याय-युद्ध मानते हैं।

अमेरिकी विचार-धारा भी क्या कोई है ? यदि अमेरिकाकी विदेश नीतिसे प्रयोजन है, तो उसमें मेरी दृष्टिमें ठीक और बे-ठीक बहुत कुछ है, और मैं उसको वैसा ही मानता हूँ। और अगर अमेरिकी जीवन-पद्धतिसे मतलब है, तो वहाँ भी यही बात लागू होती है : मैं स्वयं वैसे रहना पसन्द न करूँगा। अमेरिकी अगर पसन्द करते हैं तो वे जानें। जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं यदि राज-सत्ता, या राजनीतिक दल-सत्तापर आधारित समाजको दोषपूर्ण मानता हूँ, तो यह नहीं कि पूँजीकी सत्तापर

आधारित समाजको दोषपूर्ण नहीं मानता। दोनों रद्दी हैं, दोनोंको बदलना चाहिए। पर एकमें अगर बदले जानेके प्रति विरोध कम है, या बदलना चाहनेवालोंका दमन नहीं होता है या कम होता है, या बदलनेकी इच्छा है और अपने दोष देखनेकी क्षमता अधिक है, तो इस तथ्यको न पहचानना ही कोई गुण नहीं है। तो जिन देशोंमें एक या दूसरी प्रकारके समाज हैं, उन सभीमे यथोचित परिवर्तन हो ऐसा मैं चाहूँगा—जहाँ तक चाहनेकी बात है। और परिवर्तनके अनुकूल मानसिक स्वातन्त्र्यका वातावरण वहाँ हो, यह भी चाहूँगा। जिन देशोंमें वह अधिक हो, उनको अच्छा समझूँगा, क्योंकि उस स्वातन्त्र्यके विना उन्नति और सुधारकी गुजाइश उतनी कम हो जाती है। और अगर देखूँगा कि यह अधिक या कम स्वातन्त्र्य केवल तात्कालिक स्थिति नहीं है, बल्कि कुछ सामाजिक-राजनीतिक संगठन ऐसे होते हैं कि अनिवार्यतया स्वातन्त्र्यको सीमित करते चलते हैं, और कुछ ऐसे कि उसे बढ़ानेकी ओर दत्तचित्त होते हैं, तो न केवल स्वातन्त्र्यके होने या न होनेको लक्ष्य करूँगा वरन् इस बुनियादकी ओर भी ध्यान दिलाऊँगा। और मेरा विश्वास है कि यह बात इतिहास द्वारा प्रमाणित है कि कम्युनिज़म इस स्वातन्त्र्यको अनिवार्यतया कम करता है, लोकतन्त्र उसे प्रसारित करता है। इसलिए दोनोंमें मैं लोकतन्त्रका वरण करता हूँ। सम्पूर्ण निर्दोष लोकतन्त्र अभी दुनियामें कहीं नहीं है, यह ठीक है; उसकी कमियोंकी आलोचना होनी चाहिए यह मान लेता हूँ। सम्पूर्ण कम्युनिज़म भी अभी कहीं नहीं आया है अतः उसके वर्तमान दोषोंसे ही उसकी अन्तिम परिणतिका मूल्यांकन न किया जाय—तर्कके लिए यह भी मान लेनेको तैयार हूँ। पर क्योंकि उसकी अन्तिम परिणतिमें भी व्यक्ति-स्वातन्त्र्यके लिए जगह न होगी, जब कि लोकतन्त्रके परिवर्तन उसे बढ़ाने—या और संकुचित न करनेके प्रति सजग है, इसलिए दोनोंमें लोकतन्त्रकी वर्यता प्रमाणित है। कौन अपने घरमें क्या करता है इससे मुझे आवश्यकतासे अधिक प्रयोजन नहीं है। सैद्धान्तिक रूपसे मैं लोकतन्त्रको कम्युनिज़मसे

अच्छा समझता हूँ। और लोकतन्त्रको बुनियादी (रैडिकल) अथवा प्राथमिक (प्राइमरी) रूप दिया जा सके ऐसी चेष्टाका अनुमोदन करता हूँ। एम० एन० रायके विचारोंकी यही दिशा थी, विनोबाके विचारोंकी भी यही है, जयप्रकाश नारायणकी भी। तीनों अलग-अलग रास्तोंसे उधर आये हैं या आ रहे हैं, उससे क्या। इससे भी क्या कि एक दृष्टि बुद्धि-वादी, भौतिकतावादी, मानववादी है और दूसरी ईश्वरपरक और अध्यात्मवादी।

प्रश्न १० : मार्क्सवादको आप आजके युगका सबसे बड़ा जीवन-दर्शन मानते हैं या नहीं ?

उत्तर : जीवन-दर्शन ? जीवन-दर्शन क्या उसे कहा जा सकता है ? सबसे पहले इतिहासको समझनेकी वह एक पद्धति है—और अत्यन्त उपयोगी पद्धति है—उससे हमें इतिहासकी गतिविधिपर एक नयी दृष्टि मिली है। दूसरे वह एक उपयोगी अर्थ-दर्शन है। समाजकी अर्थ-व्यवस्थाको समझनेमें वह सहायक हुआ है, उसके परिवर्तन और सुधारकी दिशाओंका संकेत वह देता है। किन्तु जीवन-दर्शन ? मैं समझता हूँ कि मार्क्सिज़्मके नामपर जो ज़ुल्म हुआ है उसकी जड़में यह भूल है कि उसे व्यापक जीवन-दर्शन मान लिया गया—इतना ही नहीं, उसे अन्तिम मान लिया गया स्वयं उसीकी शिक्षाके विरुद्ध। जहाँ तक जीवन-दर्शनकी बात है, मैं समझता हूँ कि एक नये जीवन-दर्शनके निर्माणमे डार्विनकी देन कहीं बड़ी थी—और आइनस्टाइनकी भी—और फ़्रायडकी भी।

प्रायः मान लिया जाता है कि भौतिकतावाद सम्पूर्णतया मार्क्सकी देन है। वास्तवमें मार्क्सको केवल इतिहासकी भौतिकतावादी व्याख्याका श्रेय देना उचित है। नहीं तो जहाँ तक जड़से चेतनके विकासकी बात है, डार्विनका विकास-सिद्धान्त हमें जीव-कोषके जिस प्रारम्भिक रूप तक ले जाता था, उससे चेतनको जडज मानना अनिवार्य अगला क़दम था। फिर

मार्क्सका समाज-दर्शन उपकरणका अर्थ-दर्शन है; अर्थात् वहाँसे आरम्भ होता है—या वहाँ तक हमें ले जाता है—जब मानव-जाति अनेक प्रकारके सामाजिक संगठनोंमें गठित हो चुकी थी और उत्पादनके उपकरणोंको काममें लाने लगी थी—वे संगठन कितने ही आरम्भिक और उपकरण कितने ही आदिम क्यों न रहे हों। जीव-विकासके क्रममें जड़से जीव-कोष, जीव-कोषसे तरुवासी और भूचारी वानर, और वानरसे वनौकस अथवा यूथचारी प्राग्मानवकी परम्परा इतनी लम्बी है कि उसकी तुलनामें औज़ार का व्यवहार करनेवाले सामाजिक मानवका सम्पूर्ण इतिहास उतना ही है जितना मानवके सम्पूर्ण जीवनकी तुलनामें उसकी एक साँस। वास्तवमें जडवादका दर्शन एक ओर जीव-विज्ञानकी उस परम्परापर आधारित है जिसमें प्रधान कड़ी डार्विन है, दूसरी ओर भौतिक-विज्ञान और रसायनके शोधपर जिसमें कोई एक नाम ले लेना शायद अन्याय होगा। मार्क्सकी भी देन बहुत बड़ी है। पर 'युगका सबसे बड़ा जीवन-दर्शन'—वह और चीज़ होती है। आधुनिक युगका कोई भी सन्तोष-जनक जीवन-दर्शन किसी एक व्यक्तिके अवदानपर आधारित नहीं हो सकता। वह कई क्षेत्रों की कई प्रतिभाओंके अवदानका और कई विज्ञानोंके शोधकी उपलब्धियोंका समन्वय माँगता है। आजके अति-विशेषीकृत युगमें यह समन्वय बहुत कठिन भी हो गया है और इधर प्रयास भी बहुत कम हुआ है—भारतमें मानवेन्द्रनाथ रायके और यूरोपमें दो-एक छोटे पर निष्ठावान् संगठनोंके प्रयत्नोंको छोड़कर प्रायः हुआ ही नहीं—इसीलिए इस विषयमें तरह-तरह की भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। जिनमें एक मुख्य भ्रान्ति यह है कि मार्क्सने हमें एक पूरा जीवन-दर्शन दिया है, और वह बहुत बड़ा जीवन-दर्शन है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि वह जडवादका भी पूरा दर्शन नहीं है बल्कि उसका एक अंग है।

प्रश्न ११ : सर्वपूज्य सन्त, सर्वप्रिय लेखक या सर्वसत्ताप्राप्त राजनीतिक नेता—आप इन तीनोंमेंसे कौन-सा होना पसन्द करते हैं ?

निश्चय ही मैं तीनोंमें-से कोई भी पद प्रदान नहीं कर सकता—केवल प्रश्न कर सकता हूँ !

उत्तर : पहला विकल्प हो ही नहीं सकता, क्योंकि सन्त तो कोई भी पद पसन्द करनेसे ऊपर उठ चुका होगा—नहीं तो सन्त कैसा ? और सन्तको सर्वपूज्य होनेमें तकलीफ़ ही अधिक होगी ऐसा मेरा अनुमान है। बाक़ी दोमें-से दूसरा—राजनीतिक नेता होना—तो मैं बिलकुल पसन्द न करूँगा, सर्वसत्ता प्राप्त होना तो और भी नहीं क्योंकि वह पतनका अचूक नुस्खा है। रहा तीसरा, सो लेखक तो मैं हूँ ही; प्रिय होना किसे न अच्छा लगेगा, पर मैं थोड़ेसे लोगोंकी प्रियतामे भी सन्तुष्ट हूँ। क्योंकि प्रीतिका आधार निरे 'अच्छे लगने'से अधिक कुछ होना चाहिए, और वैसी शील-व्यसन-समानता सभीसे हो सकेगी ऐसा भ्रम मैं नहीं पालता। सर्वप्रिय जान पड़नेमें भ्रान्ति ही अधिक होगी—और जहाँ प्रीतिका आधार न हो वहाँकी लोक-ग्राह्यता—पापुलेरिटी—जीका जंजाल-भर होगी, इसलिए उसके चक्करमें नहीं पड़ूँगा। प्रीति करनेवाले थोड़े ही हों, पर प्रत्येक मेरे निकट मूल्यवान् हो—इतना बहुत काफ़ी समझता हूँ। सौ—या हजार—पाठक खोनेका मुझे उतना दुःख न होगा जितना एक विवेकीकी प्रीति खो देनेका।

प्रश्न १२ : चुपचाप साधारण मनुष्य बनकर जीनेमें आपको क्या आपत्ति है ? असाधारण होनेके प्रति यह प्रेम क्यों ?

उत्तर : चुपचाप जीना, साधारण मनुष्य बनकर जीना शायद किसी युगमें नहीं था, आजके मुखर युगमें चुपचाप रहनेसे अधिक असाधारण क्या होगा ? पर यह बताइए, कैसा भी 'बनकर' जीना क्या साधारण जीना है ? मैं जैसा जो हूँ वही होकर जीना चाहता हूँ, कुछ भी बनकर नहीं; इसीको आप आपत्ति मान लें तो आपकी इच्छा। मनुष्य जो है वही

बनता है, उससे इतर कुछ बनना नक्कू बनना है। उसी सत्त्वका उन्मेष होने देना ही सहज स्वाभाविक जीना है। कह लीजिए कि मुझमें साधारण होकर जीनेका कोई आग्रह नहीं है, केवल सहज होना चाहता हूँ। असाधारण होनेकी कोई लालसा मुझमें नहीं है। किशोरावस्थामें मानता था कि क्रान्तिकारी असाधारण होते हैं; यह अब भी मानता हूँ कि एक भीतरी असन्तुलन ही वैसे क्रान्तिकारी बनाता है जैसे हम तब थे, पर अब अपनेको वैसे क्रान्तिकारीके रूपमे नही देखता इसलिए असाधारणत्वका वह कैशोर्य-सुलभ बहाना भी अब नहीं रहा है। सामाजिक वस्तुस्थितिको स्वीकार कर लिया हो ऐसा सन्तुलन अब भी नहीं है; पर सन्तुलन समाजके साथ समझौतेसे बिलकुल अलग कुछ चीज़ है।

प्रश्न १३ : जीवनका चरम सुख आपके लिए क्या है? जीवनकी चरम उपलब्धि आप किसे मानते हैं? क्या आप ईश्वरको मानते हैं? नहीं, तो शान्ति आपको कहाँ मिलती है या आप उसे कहाँ खोजते हैं?

उत्तर : ये प्रश्न बड़े-बड़े हैं। इतने बड़े कि उत्तर बहुत छोटा ही हो सकता है—अगर मौन ही एक मात्र सही उत्तर न हो। चरम सुख? वह जीवन रहते कैसे जाना जाय, जब कि सुख और दुःख और दोनोंके अनुभवकी अपनी क्षमताका नित्य नया उन्मेष होता ही रहता है? या कि वैदिक आर्योंकी प्रार्थनाको आधुनिक रूप देकर कहूँ कि चरम सुख, चरम उपलब्धि यही है कि जीवनके अन्त तक उसके सम्पूर्ण और एकान्त अनुभवकी क्षमता बनी रहे····इसका अर्थ ग़लत समझा जा सकता है, इसलिए और कहूँ कि चरम उपलब्धि है डरसे मुक्ति। डर है तो 'जीवनका सम्पूर्ण और एकान्त अनुभव' हो नही सकता। कैसा भी डर—मृत्युका डर, जीवनका डर, प्यारका डर, घृणाका डर, ईश्वरका भी डर····'अभीता नो स्याम' अथवा 'एषा मे प्राण मा विभेः' इससे बड़ी कोई प्रार्थना वैदिक

आर्योंने नहीं की, इससे बड़ा कोई आदर्श नहीं पाया, ऐसी मेरी धारणा है।

शान्ति ? कहीं नहीं खोजता। जब जितनी पाता हूँ भीतरसे पाता हूँ। वह शिक्षा अथवा अनुशासन अथवा संयमका ही दूसरा नाम अथवा धन-पक्ष है, जब उसकी पात्रता आती है तब पात्रमें वह भरी मिलती है। 'प्रकृति शून्य नहीं सहती'—यह नियम जितना अशान्तिपर लागू होता है उतना ही शान्तिपर, और दोनों ही ऐसे द्रव हैं कि पात्रका ही रूप ले लेते हैं—पात्रसे अलग उनका कोई आत्यन्तिक रूप नहीं होता।

ईश्वर ? उसे मानने न माननेकी बात जिस स्तरकी होती है, उसे सामने कैसे लाया जा सकता है ? कमसे-कम पृच्छाकी दृष्टिके सामने ? जिनसे उसकी चर्चा हो सकती है, वे पूछते ही नहीं। वे जानते हैं।

प्रश्न १४ : सामाजिक व्यक्तित्व और साहित्यिक व्यक्तित्व अलग-अलग होना चाहिए, या हो सकता है, ऐसा आप मानते हैं ? इन दोनोंका संघर्ष आपके जीवनमें कभी आया है ? यदि हाँ, तो उसका क्या हल आपने निकाला है ?

उत्तर : यह प्रश्न निरा पारिभाषिक भी हो सकता है; उस दशामें उत्तर होगा कि दो व्यक्तित्व अलग भी हो सकते हैं, एक भी। यदि प्रश्न वैसा नहीं है, तो कहूँगा कि व्यक्तित्व एक ही हो सकता है, और उसमें अन्तर्विभक्तिका न होना ही उसकी स्वस्थता है, और उसके सामाजिक और साहित्यिक पक्षकी सफलता है। यों कर्मके क्षेत्रमें दायित्व अलग-अलग हो सकते हैं, और यह भी हो सकता है कि एकमें अपनी प्रतिभाकी पूरी अभिव्यक्ति अथवा अपनी शक्तिके सम्पूर्ण दानके लिए दूसरे क्षेत्रसे अपनेको कुछ हटा लेना पड़े। अपनी शक्ति या सम्भावना जानकर उसका उप-युक्त क्षेत्रमें सही उपयोग करना चाहना ग़लत नहीं है। पर ऐसा भी हो

सकता है कि एक अंगका विकास दूसरेकी पंगुताका कारण या परिणाम हो, तब वह स्वस्थ नहीं है—आगे वह कुत्साका पात्र है या करुणाका, यह देखना होगा।

मेरे जीवनमें भी ऐसी द्विधा न आयी हो, ऐसा कैसे सम्भव था ? पर क्या हल मैंने निकाला, यह समझाना कठिन है जब तक कि क्या समस्या थी इसका पूरा विवरण न दे सकूँ—और वह उतना आसान नहीं होता है जितना जान पड़ सकता है। इसीलिए तो उपन्यास लिखे जाते हैं : ऐसी द्विधाका निरूपण पूरे परिप्रेक्ष्यमें ही हो सकता है।

संक्षेपमें यह कहूँ कि मैं व्यक्तिका अपने प्रति भी उत्तरदायित्व मानता हूँ, समाजके प्रति भी। यह कोई नयी बात नहीं। पर मैं अपने प्रति उत्तर-दायित्वको प्राथमिक मानता हूँ, और समाजके प्रति दायित्वको उसीसे उपपन्न। यहाँसे मतभेदका क्षेत्र आरम्भ हो जाता है। और आगे मैं लेखक-का बहैसियत लेखकके एक अतिरिक्त निजी उत्तरदायित्व भी मानता हूँ, और एक अतिरिक्त सामाजिक उत्तरदायित्व भी—वह भी गौण अथवा उपपन्न ही। इसीलिए कलाकारकी एकान्त साधनाको अत्यधिक महत्त्व देता हुआ भी मैं समझता रहा हूँ कि समय-समयपर उसे महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्याओंपर अपना अभिमत प्रकट करना चाहिए : उन्हें उचित समाधानकी ओर प्रेरित करनेके लिए अपने मन्तव्यका जितना प्रभाव हो सकता हो होने देना चाहिए। यह नागरिक कर्त्तव्य मात्र नहीं है, क्योंकि इसमें केवल नागरिकके मतका उपयोग नहीं है, कलाकारकी तद्वत् प्रतिष्ठासे उस मतको जो अतिरिक्त गरिमा मिल जाती है उसका उपयोग है। किन्तु अपने साहित्यिक व्यक्तित्वका ऐसा सामाजिक उपयोग करने या होने देनेमें उसे दल-बन्दीसे बचना चाहिए, क्योंकि विना इसके वह अपने निजी दायित्वसे स्खलित हो जाता है।

मेरी समझमे द्विधाका, संघर्षका, क्षेत्र यही होता है—यानी उस संघर्षका, जो कलाकारके भीतर होता है और जिसका उसे अपनी अखंडता,

निष्ठा, इंटेग्रिटी अथवा ईमानदारीकी रक्षाके लिए सामना करना पड़ता है। नहीं तो बाहरी संघर्ष तो अनेक हो सकते हैं—भौतिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक लाभालाभके प्रश्न....मैं कहूँ कि इस स्तरका संघर्ष मेरा अपरिचित नहीं रहा है, यह भी कहूँ कि ऐसा इसलिए कि मैं अपने साहित्यिक व्यक्तित्वसे हिन्दीके औसत लेखककी अपेक्षा अधिक माँगता रहा हूँ—अपनेको अधिक उत्तरदायी समझता रहा हूँ। वह मेरी भूल हो सकती है, और उसपर आधारित होकर जब जिस द्विधाका जो हल मैंने निकाला उसमें भी मुझसे भूल हुई हो सकती है। जो मैं मानता हूँ वह मैंने बता दिया, उसपर कहाँ तक क़ायम रहा हूँ यह कहना केवल मेरा काम तो नहीं है, उसपर व्यक्तिनिरपेक्ष दृष्टिसे भी विचार किया जा सकता है।

एक-दो उदाहरण दे दूँ—जो अन्यत्र भी दिये जा सकते थे—आपके सहयोगवाले प्रश्नके उत्तरमें। सन् १९४२ में मैंने 'फ़ासिस्ट-विरोधी लेखक सम्मेलन'का संयोजन किया था—तीन संयोजकोंमेंसे मैं एक था, दूसरे दो थे कृशनचन्दर और शाहिद अहमद। यह सम्मेलन प्रगतिशील लेखक संघ-की ओरसे नहीं था। संयोजन समिति बननेसे पूर्व यह प्रश्न उठाया भी गया था; मैंने कहा था कि यद्यपि मैं फ़ासिस्ट-विरोधी लेखकोंकी ओरसे वैसी घोषणाको आवश्यक और उपयोगी मानता हूँ, तथापि किसी दलकी ओरसे वैसी घोषणा की जायगी तो मैं उसमें सम्मिलित न हूँगा। सम्मेलन-को दल-गत संगठनसे मुक्त माना और रखा गया, प्रगतिशील संघके जो सदस्य उसमें आये थे उन्होंने सम्मेलनके अन्तर्गत अपनी एक अलग बैठक भी की पर जो सदस्य नहीं थे उन्होंने उसमें भाग नहीं लिया। मुख्य प्रस्ताव (घोषणा) का और कुछ अन्य प्रस्तावोंका मसविदा मैंने तैयार किया था, अनन्तर विषय-निर्धारिणीमें परामर्श द्वारा यह निश्चय कर लिया गया था कि किस प्रस्तावको कौन प्रस्तुत करे और कौन उसका अनुमोदन करे।

दस वर्ष बाद बम्बईमें सांस्कृतिक स्वातन्त्र्यके विषयको लेकर जो सम्मेलन हुआ था, उसके भी प्रथम संयोजकोंमेसे एक मैं था। राजनीतिक स्थिति-वश वह सम्मेलन दिल्लीमें न हो सका, जहाँ मेरा विश्वास है कि उसका रूप कुछ दूसरा, और मेरी समझमें अधिक सन्तोषप्रद, होता। मेरी निजी राय यह भी थी कि उसे दिल्लीसे अन्यत्र न ले जाया जावे, भले ही उसपर रोक लगा दी जावे और सम्मेलन होने ही न पावे। किन्तु बम्बईका आमन्त्रण भी था और समितिका बहुमत वहाँ जानेके पक्षमे, अन्ततोगत्वा सम्मेलन वहाँ हुआ। उसने जो रूप लिया वह साहित्यिक कम था, राजनीतिक अधिक; उसके बाद जो समिति बनी उसमें यद्यपि मुझे भी एक मन्त्री निर्वाचित किया गया था तथापि वहीसे मेरा सम्बन्ध उस संस्थासे छूट गया। यह नहीं कि उसके बाद संस्थाने अच्छा कुछ नहीं किया, पर ग़लत भी कुछ किया, और यह तो हुआ ही कि दल-गत राजनीतिसे कलाकार या सांस्कृतिक कर्मीको अलग रखनेकी बात वहाँ अप्रधान हो गयी—बल्कि कलाकार ही अप्रधान हो गया। अनन्तर उसकी गति-विधिमे कुछ सुधार अवश्य हुआ है, और कई लोगोंने अनुभव किया है कि साहित्यिक उद्देश्योंको प्राथमिकता न देनेमें भूल हुई; उसकी अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र-संस्थामें भी इस प्रश्नपर वाद-विवाद हुए है और होते रहते हैं। पर उस सम्मेलनके बादसे उस संगठनका अथवा उसकी किसी समितिका सदस्य मैं नहीं हूँ। और चलते-चलते यह भी कह दूँ कि यह बात—अपनेको साहित्यिक कहनेवाली कुछ हिन्दी पत्रिकाओंने जैसा प्रवाद फैलाया है—सरासर झूठ है कि मेरी अग्रेज़ी पत्रिका 'वाक्'को इस संस्थासे, अथवा किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय, विदेशी या देशी भी सस्थासे, अथवा किसी भी सरकारसे किसी प्रकारका अनुदान या सहायता मिली है या मिलनेका आश्वासन मिला है। इतना ही नहीं, कोई अप्रत्यक्ष सहायता—यथा बड़ी संख्यामें प्रतियाँ खरीद लिया जाना—भी उसे नहीं मिली है।

जो कुछ मैं करता रहा हूँ उसपर लज्जित नही हूँ, उसे ग़लत भी नहीं

मानता। इधर कुछ मित्रोंने सुझाया है कि इस प्रकार शक्तिका अपव्यय होता है, और जितनी शक्ति मैंने इन या ऐसे दूसरे कामोंमें लगायी उसका इससे अच्छा उपयोग भी हो सकता था। मैं यह मान लेता हूँ। सोच भी रहा हूँ कि भविष्यमें ऐसी झझटमें न पड़ूँ। पर इसे आप चाहे सामाजिक बोध कह लीजिए चाहे ख़ुदाई फ़ौजदारी, कि जब मुझे स्पष्ट कुछ दीखता है जिसे दूसरे नहीं देख रहे है—या देखते है तो जोखमके डरसे कह नहीं रहे हैं—तो उसे कहे विना नहीं रहा जाता। 'भई, मुझे क्या!' वाली बुद्धि, उस दायरेमें जो स्पष्ट ही मेरा दायरा है, मुझे ग्राह्य नहीं होती। जानता हूँ कि दूसरे बहुतसे लेखकोंको हो जाती है, और उनमें मेरे गुरुजन भी हैं और समवर्ती भी और नये लेखक भी, पर इस ज्ञानसे मुझे और ग्लानि ही होती है। फिर अमुक काम करणीय तो है, पर मुझे अप्रीतिकर या क्षतिकर है, इसलिए कोई दूसरा इसे कर दे और तब तक मैं कोई दूसरा लाभप्रद या यशप्रद काम कर लूँ।'—यह बुद्धि भी मुझे ग्राह्य नहीं होती: यदि यह ठीक है तो फिर अवसरवादिता क्या है, स्वार्थ-लोलुपता क्या है?

प्रश्न १५: साहित्यिक कृतिकारके नाते आप क्या अपने-आपसे सन्तुष्ट हैं, अपनी रचनाके सम्बन्धमें अन्तर्द्वन्द्वसे मुक्त हो सके हैं? नहीं, तो रचनाके बारेमें आपकी गहनतम चिन्ता क्या है?

उत्तर: सन्तुष्ट बिलकुल नहीं हूँ, नहीं तो और लिखता क्यों? अन्त-द्वन्द्वसे मुक्त भी नहीं हूँ। पर वह अधिकतर लिखनेसे पहले होता है। और अगर बादमें भी रहे तो जब तक वह रहता है, प्रकाशन नहीं करता। प्रकाशनके बाद फिर अगर शंका हो जावे तो फिर दुबारा नहीं छपने देता। जो लिखा है, उसमें कुछ काफ़ी अच्छा भी लिखा है ऐसा मानता हूँ, पर जो भी जब भी छपने भेजा है, द्विधा रहते नहीं भेजा, अच्छा समझकर ही भेजा है। बादमें स्वयं मत बदल जावे, या दोष दिखानेपर दीख जावें,

वह दूसरी बात है। इसलिए कृतिकारके नाते अपने-आपपर लज्जित भी नहीं हूँ।

रचनाके क्षेत्रमें गहनतम चिन्ता और क्या हो सकती है सिवा इसके कि जो रचूँ वह रागदीप्त सत्य हो—वह सम्पूर्ण सच हो, और जो सच है उसका अधिकसे अधिक उसकी पकड़में आ जाय और उसमें रागदीप्त हो उठे? इसपर शंका हो सकती है कि सत्य तो दर्शनका क्षेत्र है, कलाका क्षेत्र सुन्दरका ही है, और मैं उस बातका खण्डन नहीं करूँगा। कला भी ज्ञानका एक प्रकार या क्रिया है, अर्थात् सत्यकी उपलब्धिकी एक साधना है, सुन्दर उसकी रागदीप्तिका उपकरण या साधन है।

बड़ी-बड़ी बातें मैं नहीं करना चाहता, सत्यकी बात कह रहा हूँ तो इसलिए कि इस समय मैं जहाँ हूँ वहाँ, जो कुछ लिखता रहा हूँ उस सबके बारेमें, और भविष्यमें जो लिखूँ उसके बारेमें एक मौलिक जिज्ञासा मेरे मनमें है। कह लीजिए कि एक नये, नये प्रकारके, अन्तर्द्वन्द्वके सामने हूँ। जब अभी नहीं जानता कि उसका हल क्या पाऊँगा, तब उसका कुछ भी निरूपण करके आपको भ्रममें डालना या अपना मार्ग और दुस्तर बनाना नहीं चाहता। जो भी उत्तर मिलेगा—अगर मिलेगा—तो वह उसमें प्रतिबिम्बित होगा जो लिखूँगा—अगर लिखूँगा। सच मानिए, उसके बारेमें मेरा कौतूहल आपसे कम नहीं है।

•

अंश-दान*

प्रिय····,

तुम्हारे तीव्र विरोधने मुझे कुछ उद्विग्न भी किया है और कुछ उत्तेजित भी। पत्रका उत्तर मैं तत्काल ही देना चाहता था, किन्तु अपनी पहली प्रतिक्रियाको मैंने दबा लिया—और यह बुद्धिमानी ही की, क्योंकि यद्यपि उस समयके भावनात्मक विस्फोटसे मुझे शान्ति ही मिलती, पर तुम्हारे लिए वह उचित न होता।

तुमने विरोधकी सूचना मुझे दी, इसके लिए मैं कृतज्ञ हूँ। और यह भी स्वीकार करनेमें मुझे संकोच नहीं है कि एक दृष्टिसे तुम्हारी बात

---

* ये दो पत्र क्रमशः मार्च १९४३ और अक्तूबर १९४५ में दो अलग-अलग व्यक्तियोंको लिखे गये थे। पहले पत्रका उत्तर पानेके बाद लेखकको यह कौतूहल हुआ था कि क्या युद्धके बाद भी उसके तत्सम्बन्धी विचार वैसे ही रहेंगे, अतः उसने पत्र भी वापस मँगाकर रख लिया था। दूसरे पत्रकी प्रतिलिपि उसने रखी थी।

आज युद्धके, अथवा उससे सम्बद्ध हिंसाके, अथवा चरित्रपर सैनिक जीवनके प्रभावके, विषयमें लेखक और भी कुछ सोचता है। किन्तु युद्धारम्भ और युद्धान्तके समयके ये पत्र तत्कालीन मनोदशाके अधिक सच्चे चित्र हैं, और आजके तार्किक अनुधावनकी तुलनामें अधिक रोचक अथवा उपयोगी हो सकते हैं। जो निश्चय जिस समय किया गया, उस समय उसके पीछेकी विचार-परम्परा या प्रेरणा क्या थी, आलोचक यही जानना चाहेगा। यही इन पत्रोंको प्रकाशित करनेकी संगति है। पहले पत्रके कुछ नितान्त निजी अंश छोड़ दिये गये हैं।

ठीक भी है—बल्कि इसी बातको मैं प्रशंसापूर्वक कहूँगा कि मेरे विचारोंके पीछे एक आन्तरिक वेदना भाँपकर तुमने उस सहज-बोधका फिर परिचय दिया है जो पहले भी मुझे चकित करता रहा है····किन्तु फिर भी तुम्हारा दृष्टिकोण सर्वथा भ्रान्तिमूलक है।

इस विरोधाभासपर अधीर मत होना। तुमने जो परामर्श मुझे दिया है, उसका मैंने बुरा नहीं माना—मैंने अनुभव किया कि मेरे और मेरे भविष्यके प्रति शुभेच्छाने ही तुम्हें लिखनेको प्रेरित किया होगा, और इसीलिए मैं अपना या अपने एक अंशका स्पष्टीकरण करनेका यह प्रयत्न भी कर रहा हूँ····

हम लोगोंने अभी तक कभी राजनीतिपर बहस नहीं की—और मुझे इस बातकी खुशी है कि नहीं की। अब राजनीतिसे मेरा कोई क्रियात्मक सम्बन्ध नहीं है; केवल मेरे मतामत हैं जिन्हें कभी-कभी व्यक्त भी कर लेता हूँ—जब वैसा करनेसे असंकीर्ण विवेचन और बौद्धिक उत्तेजनाकी आशा हो। ऐसे अवसर अब पहलेसे भी कम आते हैं, क्योंकि भारतकी परिस्थितियाँ ज्यों-ज्यों विकसित होती जाती हैं त्यों-त्यों हमारी राजनीति अधिक तीव्र रूपसे ध्रुवाभिमुख (पोलराइज़) होती जा रही है। साधारणतया उसके दो ध्रुव स्पष्ट होते हैं—एक ओर वे लोग हैं जो इस विश्व-युद्धमें भाग लेना और उसे निष्पत्ति तक पहुँचाना (जहाँ तक कि यह उनके सामर्थ्यके भीतर है) अपना कर्त्तव्य समझते हैं, और दूसरी ओर वे लोग हैं जो इसमें भाग लेना कर्त्तव्य नहीं समझते—बल्कि यह कहना चाहिए कि भाग न लेना ही कर्त्तव्य समझते हैं, ताकि उनके मतका आग्रह स्पष्ट हो जाय। निस्सन्देह दोनों दलोंके भीतर अनेक उपदल हैं जिनके अलग-अलग दृष्टिकोण और स्वार्थ हैं, किन्तु इन दो मुख्य दलोंके विरोधकी इतनी चर्चा होती रही है कि आजकलके राजनीतिक वाद-विवादोंमें एक भीषण एक-रसता (अथवा द्विरसता अथवा निरी विरसता !) स्पष्ट लक्षित होती है। मैं यह कहकर अपने उच्चतर

विवेककी डींग हाँकना नहीं चाहता, अपने उस तीखे और कटु अनुभवकी बात कहता हूँ जो रेलगाड़ियों और बसोंकी अनुदिन यात्राओंमें, यात्रियोंमें होने वाले विवादोंको सुनकर मुझे मिला है। (विवादमें अपने मतके लिए लड़ जानेकी कला मुझे नहीं आती, इसलिए प्रायः श्रोता मुझे बनना पड़ता है, मेरे श्रवण-धैर्यके लिए मुझे अनेक प्रमाण-पत्र मिल चुके हैं, जिनकी दीवारकी आड़में मेरी नैसर्गिक भीरुता आसानीसे छिप जाती है !)

और मैं उनमे हूँ, जिनका विश्वास है कि यह युद्ध 'योद्धव्य' है—कि उसमें भागी होना हमारा कर्त्तव्य है। मेरा विश्वास है कि इस युद्धके परिणामपर समूचे ससारके सर्वदेशीय हितोंका निर्णय आधारित है। इसलिए यह भी मैं मानता हूँ कि राष्ट्रीय—एकदेशीय—हित इस युद्धमें गौण हैं। यह नहीं कि उनका महत्त्व नहीं है, केवल यह कि उनका महत्त्व आत्यन्तिक नहीं, आपेक्षिक है, उपपन्न है। फलतः मैं भारतकी स्वाधीनताको एक स्वायत्त, आत्यन्तिक तत्त्वके रूपमे नहीं देखता। फ़ासिस्ट पक्षकी विजयसे भारत स्वतन्त्रता पा सकेगा, यह तर्क तो इतना अनर्गल और बेहूदा है कि इसका उत्तर देना अनावश्यक है; जो तटस्थता अथवा 'निष्पक्षता'को ठीक मार्ग समझते हैं, उनसे मैं सहमत नहीं हो सकता कि निरी अकर्मण्यता फलप्रद हो सकती है—कम-से-कम कोई वांछनीय मूल्यवान् फल वह कदापि नहीं दे सकती।

और यह अनुभव करके, कि युद्धमें भारतका कुछ कर्त्तव्य है, यह कैसे उचित हो सकता है कि वह कर्त्तव्य मैं दूसरों द्वारा किये जानेके लिए छोड़ दूँ, और स्वयं हाथ-पर-हाथ धरे बैठा रहूँ ? युद्ध बर्बरता है, और जो युद्ध करते हैं वे या तो पहले ही न्यूनाधिक बर्बर और असस्कृत होते हैं, या युद्ध-कर्मकी योग्यता और दक्षता प्राप्त करनेके लिए अस्थायी रूपसे अपनेको उस निम्नतर तलपर लाते हैं—यह सब सच है, मुझे स्वीकार है। किन्तु अगर यह अप्रीतिकर घोर कर्म करणीय है, और मैं अनिवार्य

समझता हूँ कि वह किया जाय, चाहता हूँ कि वह किया जाय, तो तटस्थता अथवा उपेक्षा कैसे उचित है, यह कैसे क्षम्य है कि उसे मैं दूसरोंपर छोड़ दूँ ? इससे तुम चाहो तो यह परिणाम निकाल लो कि मैं इतना संस्कृत-सभ्य नहीं हुआ हूँ कि निरुद्वेग रह सकूँ; चाहे यह समझ लो कि चरित्रके छिछलेपनके कारण मैं पराधिकार-चार्चिक हो गया हूँ, बड़े-बड़े दायित्व अपने ऊपर लेकर व्यर्थ अहंकारका पोषण करना चाहता हूँ, चाहे—कई-एक और भी सम्भावनाएँ हैं, पर यह स्पष्ट है कि उनके तथ्या-तथ्यका निर्णय मैं नहीं कर सकता।

मुझसे अच्छे लड़ैत हैं। तोड़ने-फोड़ने, नष्ट-भ्रष्ट करने, मारने-काटनेके कामकी मुझसे कहीं अधिक योग्यता रखनेवाले अनेक लोग हैं। निस्सन्देह मुझमें प्रागैतिहासिक पशु-मानव या मानव-पशुकी सहज वृत्तियाँ हैं, और उन वृत्तियोंपर आश्रित एक जीवन मेरा भी है, किन्तु साथ ही मुझमें अपनी जाति, अपने वर्ग, अपनी परिवृतिके संस्कार भी हैं, और फलतः अनेक वर्जनाएँ, संकोच, ऊहापोह और नैतिक भावनाएँ जो कि नर-मुण्ड-संग्रह करनेकी मेरी योग्यताको परिमित करती हैं। उस प्रकारकी विशेष महत्त्वाकांक्षा भी मुझमें नहीं है, अपने भीतर फ़ासिस्टोंके प्रति हिंस्र घृणा जगाना मैं उतना ही असम्भव पाता हूँ जितना कि किसी पागल अथवा उन्मादग्रस्त रोगीके प्रति। किन्तु यह सब होते हुए भी मैं अनुभव करता हूँ कि अपनी परिमित योग्यताके अनुरूप मुझे युद्धमें कुछ-न-कुछ भाग अवश्य लेना चाहिए। अतएव....

शायद तुम मुझे मूर्ख समझो। यदि ऐसा समझो तो मैं खीझूँगा नहीं, न तुम्हारी धारणाका खण्डन आवश्यक समझूँगा। क्योंकि बिलकुल सम्भव है, वह धारणा ठीक हो—स्वयं मुझे कभी-कभी वैसा सन्देह होता है ! या शायद तुम मुझे पथ-भ्रान्त समझो और उदारतापूर्वक दयाका पात्र ठह-राओ। दयाका पात्र समझा जाना मुझे चुभेगा, परन्तु उस उदारताका सम्मान करके मैं अपने क्षोभको अपने तक ही रखूँगा। या तीसरी

सम्भावना—पर मैं आशा करता हूँ कि यह सम्भावना नहीं है, और तुम मुझे अर्थलोभी नहीं ठहराओगी। क्योंकि इस निर्णयके बाद अनदेखी या क्षमा न तुम्हारी ओरसे हो सकती है, न मेरी ओरसे। (....)

क्या काम मैं करना चाहता हूँ—सेनाके किस अंगमें भागी होना चाहता हूँ, यह तो मैंने अभी तुम्हें बताया नहीं, क्योंकि सब कुछ अभी हवामें है, कुछ निश्चय नहीं हुआ है, मैं केवल आशा कर रहा हूँ—इच्छा कर रहा हूँ। मुझे आशा है कि काम रुचिकर होगा बल्कि ऐसा कि उसमें अपनेको निमग्न किया जा सके—और मेरा विश्वास है कि मैं उसके योग्य भी हूँ। (....) तुम्हारी यह धारणा शायद ठीक ही होगी कि मुझे ऐसे लोगोंमें रहना पड़ेगा जिनमें बुद्धि बहुत कम है और जितनी है वह भी क़वायदकी बेड़ियोंमें जकड़ी हुई—अधिकसे अधिक इने-गिने अपवाद मिल जायेंगे। किन्तु फिर भी मुझे बहुत घूमनेका और अनेक श्रेणियों और स्तरोंके असैनिक लोगोंके सम्पर्कमें आनेका अवसर मिलेगा, इसलिए शायद मेरी मृत्यु उतनी जल्दी नहीं होगी जितना तुम डर रही हो—बौद्धिक मृत्यु....

प्रतिभा ? हाँ, कुछ थोड़ी-सी मुझमें शायद हो भी सकती है। और मैं उस अभागी श्रेणीका 'कलाकार' हूँ जो अपने कर्मको बड़ा उत्तरदायित्व समझता है—जो मानव-जातिमें और उसकी सेवामें आस्था रखता है—जो इसलिए अन्तमें एक बौद्धिक गूँगेपनकी अवस्थाको पहुँच जाता है—उसकी आत्माकी घिग्घी बँध जाती है...किन्तु ऐसे व्यक्तिके लिए निस्तार कहीं है तो इसीमें कि सब कुछको—विशेषकर इसी अपनी सन्दिग्ध प्रतिभाको !—ख़तरेमें डाल दे, और इस मूर्ख दुस्साहसिक आशासे चिपटा रहे कि कभी-न-कभी किसी-न-किसी तरह सब ठीक ही हो जायगा। क्योंकि अगर वह सब-कुछको इस प्रकार ख़तरेमें नहीं डालता, तो वैसे ही गँवा देता है—निरे आत्म-तिरस्कार और ग्लानिके कारण।

यह सब बुद्‌िध-संगत जान पड़ता है न ? इतना बुद्‌िध-संगत कि खीझ पैदा हो—मुझे स्वयं इस युक्तिवादपर खीझ आती है। क्योंकि मैं बुद्‌िध-वादी हूँ तो केवल संकल्प-शक्तिके कारण। मैं अस्पष्ट अनुभव करता हूँ कि इससे बड़ा एक जीवन है—जिसके प्रति मैं अपनेको सम्पूर्णतया उत्सर्ग नहीं करता—पागलपनकी सीमापर खड़ा रहता हूँ, पर सम्पूर्ण पागल होते-होते रह या रुक जाता हूँ····किन्तु वह विशालतर इतना निजी है—आस्थाकी तरह निजी, जो व्यक्तिके पास रहती है, किन्तु फिर भी जैसे जीवनसे अलग, वह जीवनमें हस्तक्षेप नहीं करती····मैं नहीं कह सकता कि मेरी बात तुम समझ रही हो या नहीं—कि मैं समझा जानेका पात्र भी हूँ या नहीं। और इस मामलेमें फिर तुम्हारा ख़्याल ठीक है, और ठीक होकर भी ग़लत है। क्योंकि निस्सन्देह इसमें एक प्रकारका आत्म-हनन मैं कर रहा हूँ—किन्तु अपने बाहरकी किसी वस्तु या घटनाके लिए या उसके कारण नहीं। और अपने जीवनके उस अल्पकालिक अङ्गके लिए तो कदापि नहीं जिसकी ओर तुम्हारा संकेत है। उस अङ्गका अपने-आपमें कोई महत्त्व नहीं है—यद्यपि यह ठीक है कि जीवनका प्रत्येक अङ्ग प्रत्येक दूसरे अङ्गपर प्रभाव डालता है। मैं आत्म-हनन कर रहा हूँ अपने लिए, अपने अस्तित्वके एक 'प्रमाण'के लिए जो कि मुझे उस अस्तित्वसे कहीं बड़ा मालूम होता है, किन्तु जिसकी परिभाषा मैं नहीं कर सकता। यह आशा मुझे नहीं है कि जिन लोगोंके, या जीवनकी जिस प्रवृत्तिके आगे मैं अपनेको प्रमाणित करना चाहता हूँ वह जानेगा भी, कल्पना भी करेगा, कि यह उद्योग भी मैंने किया, इसलिए स्पष्ट है कि उद्योग करना मूर्खता है, तथापि स्थिति यही है····यह सती होनेकी तरह ही है—एक आत्म-बलिदान जो कि परम निष्फल है किन्तु फिर भी इतना महत्त्व-पूर्ण कि कई स्त्रियोंने अपनेको शोक—या प्रेमके भी—रहते बिना भी आगमें झोंक दिया होगा।

प्रतिभा और बुद्‌िधकी तो यों पत्ती काट दी! तुम अनुमान कर सकती

हो कि मेरी बुद्धि कितनी उलझी और भ्रान्त हो गयी है—मानो किसीने अपने आपमें गाँठ बाँध ली हो और फिर सिरे खींचकर खोलना चाह रहा हो—हाथोंसे पैर पकड़कर खींच रहा हो। प्रतिभा है भी क्या बला? मैंने कई एक प्रकारके कामोंमें हाथ लगाया है, सभीमें न्यूनाधिक दक्षता दिखायी है—रेखांकन, चित्रकारी, मूर्ति-शिल्प, कविता और गद्य-लेखन, बढ़ईगिरी, चर्म-शिल्प, सिलाई, बाग़वानी, पत्रकारिता, भौतिक विज्ञान, रसायन, धर्म-तत्त्व-विवेचन, कोश-निर्माण, घुड़सवारी, पर्वतारोहण, फ़ोटोग्राफ़ी, गृह-सज्जा, बुनाई—और रेलवे स्टेशनपर बैठकर लम्बे और उबानेवाले पत्रोंका लेखन! सभी काम मैंने किये हैं—और कुछ नहीं किया। अभिव्यंजना कौन-सा माध्यम चुनती है, इसका महत्त्व कम है। अगर मैं गन्दी गालियाँ बकनेका भी अभ्यास करने लगता, तो शायद 'हमारी भाषाके सर्वश्रेष्ठ दस या बीस गालीकारोंमें-से अन्यतम' होनेका श्रेय किसी-न-किसीसे पा ही लेता—जैसा कि लेखक होनेके नाते पा सका हूँ—किन्तु इससे सिद्ध क्या होता? किसीके लिए इसका कोई आत्यन्तिक महत्त्व न होता—मेरे लिए भी नहीं। एक दिन ऐसा अवश्य आता जब मैं अपने आपसे कह उठता, 'कमीने, दम्भी, तू केवल सफलतासे व्यभिचार करता रहा है, जीवनका सामना तूने नहीं किया, अगर तुझमें प्रतिभा है तो उसे आँच देकर परख होने दे!' और वह दिन क़यामतका दिन होता—क्योंकि अगर इस चुनौतीके बाद मैं परीक्षा न देता तो अपनी आँखोंमें गिर जाता; और देता तो शायद पाता कि मेरी प्रतिभा परीक्षामें उत्तीर्ण होने लायक नहीं थी। किन्तु जैसा कि शायद ऊपर कह भी आया हूँ, (मुझे आगे लिखनेकी उतावली है, पीछे देखनेका समय कहाँ?)—मैं उनमें-से हूँ जो समझते हैं कि अगर प्रतिभा चोट खाकर बच सकनेवाली नहीं है तो शायद उसका मर जाना ही श्रेयस्कर है—संसारको कोई हानि नहीं पहुँचेगी। भैंसके पंख निकल आयें तो वह उनका गर्व कर सकती है—किन्तु तभी तक जब तक कि वह उड़नेका उद्योग नहीं करती। उसके

पंख कट जावें तो पक्षियोंकी गिनतीमें कमी नहीं हो जायगी ! मैं जानता हूँ कि यदि मुझमें बहुत बड़ी प्रतिभा होती—वास्तविक महान् प्रतिभा, मनीषा, जीनियस—तो मुझे अपनी परख करनेकी इतनी चिन्ता भी न होती। ईसाके जीवनका एक श्रेष्ठ क्षण वह था जब उसने कहा था—'अपने स्रष्टा ईश्वरकी तू परख नहीं करेगा।' यह अडिग आस्था महान् प्रतिभाकी आस्था है—मुझमें वह अडिग आस्था नहीं है, क्योंकि वह महान् प्रतिभा नहीं है।

मुझे क्षमा करो, यह पत्र लगभग स्वगत भाषण हुआ जा रहा है। क्षमा तुम्हें करना होगा—क्योंकि बहुत दिनों पीछे मैंने ऐसी बेसिर-पैरकी ईमानदार बातें की हैं। दोष मेरा है तो यही कि मैं और भी बहुत कुछ कह सकता था—पर तुम जानती हो कि जो कहा जा सकता है वह सब लिखा नहीं जा सकता—विशेषकर रेलके प्लेटफ़ार्मपर, जहाँ बैठकर मैंने यह सब लिखा है। आजकल यह गाड़ी प्रायः लेट हुआ करती है—आज चार घण्टे लेट थी और अभी उसके आनेमें बीस मिनट बाक़ी हैं।

बादमें।

मैं अपने कमरेमें वापस पहुँच गया हूँ—काश कि मैं 'घर' कह सकता; पर घर नहीं है, केवल एक कमरा है, यद्यपि परिचितिके कारण वह मुझे केवल झेल लेनेकी बजाय रूखा-सा स्वागत करता जान पड़ता है। मैं अतिश्रमसे और बहुत देर तक लतागार बहुत तीखा, बहुत गहरा, बहुत-सा चिन्तन करनेसे बिलकुल क्लान्त हूँ; किन्तु मैंने पहुँचते ही तुम्हारा पत्र खोज निकाला है, यह देखनेके लिए कि मैंने उसका उत्तर दिया है या भूसीमें तीर मारता रहा हूँ। और मैं देखता हूँ कि मैं विषयसे बहुत भटका नहीं, यद्यपि अब देखता हूँ कि तुम्हारा एक प्रश्न है–'क्या कुछ भी ऐसा हो सकता है जिसके लिए आत्महत्या श्रेय हो ?' इस प्रश्नके दो अर्थ हो सकते हैं। यदि तुम्हारा प्रश्न यह है कि 'क्या किसी भी चीज़के लिए आत्मोत्सर्ग

करना उचित है ?' तो मेरा उत्तर स्पष्ट है—'हाँ, ऐसी अनेक चीज़ें हैं—और बड़ी छोटी-छोटी चीज़ें भी ।' एक बार मैं एक तैराकके हाथोंकी गति देखकर इतना मुग्ध हुआ था कि विना तैरना जाने झीलमें कूद पड़ा था । मुझे बेहोश बाहर निकाला गया और होशमें लानेके बाद मेरा मज़ाक बनाया गया, किन्तु मैं अपनी करनीपर कभी लज्जित नहीं हुआ—उस निरायास लय-युक्त गतिकी अनुभूति निश्चय ही उन वस्तुओंमेसे थी जिनके लिए प्राण निछावर किये जा सकते हैं । और अनेक अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ भी हैं । बल्कि मुझे तो लगता है कि जीवन जीने लायक ही तब तक नहीं होता जब तक कि वह मरने लायक बहुत-सी चीज़ें प्राप्त न कर ले । किन्तु अगर तुम्हारे प्रश्नका यह अभिप्राय नहीं था, दूसरा ही अभिप्राय था—कि क्या आत्म-हनन क्षम्य है, तो उसका उत्तर मैं ऊपर दे आया हूँ····

मैंने शायद बहुत अनर्गल प्रलाप किया है, किन्तु इसे दुबारा पढ़कर देखूँगा नहीं—क्योंकि जो दुबारा पढ़ा जाता है वह फिर भेजा नहीं जाता—प्रलाप करनेकी भी एक अवधि होती है ।

मेरे मानस-पटपर कविताके उड़ते हुए बादल आ रहे हैं—न जाने क्यों । निस्सन्देह जिसे लारेंस और टेनीसन एक साथ याद आवे उसका दिमाग़ ख़राब समझना चाहिए ।

"मेरे चरणोंके नीचेकी श्यामल घास
मानो मेरे भीतर झूमती है—
जैसे झरनेमें काही;
और कितना अच्छा है अपना-आप न होकर
ये इतर वस्तुएँ होना—
क्योंकि मैं अपने-आपसे ऊबा हुआ हूँ···"

"सन्ध्या वेला और घण्टा-ध्वनि
और उसके बाद अन्धकार ।

उस समय विदाओंका विषाद न हो
जब मैं अपनी नौका खोलूँ ।..."

(दो दिन बाद)

यह सोचकर कि यह पत्र न भेजना ही ठीक है—मैंने इसे दुबारा पढ़ डाला है—और अब उसमें कुछ और बातें जोड़ना आवश्यक जान पड़ता है—नहीं तो तुम्हारे पत्रका उत्तर पूरा नहीं होता ।

पिछले साल जब मैंने पूछा था कि मैं सेनामें लिया जाऊँगा कि नहीं, तब मुझे किसी ऐसे संकटपूर्ण कामकी ज़रूरत थी जिससे मैं अपने आपसे बाहर निकल सकूँ । संकटपूर्ण काम और भी हो सकते हैं, निस्सन्देह; किन्तु यह एक था जिसमें राजनीतिक ईमानदारी भी मिलती थी—क्योंकि मैं फ़ासिस्ट-विरोधी युद्धका समर्थक था। किन्तु उस समय काम नहीं बना। केवल अभी जनवरीमें यह सम्भावना मेरे सामने आयी जिसकी अभी बात हो रही है । यह काम युद्ध-मुखका नहीं है, इसलिए सकटपूर्ण भी नहीं है—इस हद तक तो मुझे निराशा हुई है । किन्तु भीतरी माँगके अनुकूल न होकर भी शायद यह बाह्य परिस्थितियोंकी—मेरी योग्यताकी—दृष्टिसे अधिक उपयुक्त है । किन्तु कम-से-कम यह मेरी परिचित परिवृतिसे तो अलग है—एक नयी परिवृति और वह भी निरन्तर परिवर्तनशील । जब खुजली खुजलानेसे नहीं मिटती तो हम उस स्थलको थप्पड़ मारते हैं, थप्पड़की पीड़ा खुजलीको दबा देती है । यह बात तर्क-संगत नहीं तो मनोविज्ञान-संगत अवश्य है ।

दूसरे तुम पूछती हो, 'तुम भी वही क्यों करो जो कि सैकड़ों मूर्खोंने किया है ? किन्तु क्या सचमुच उन्होंने यह किया है ? मुझे तो जान पड़ता है कि हमारे देशके दु:खोंका एक कारण यह है कि हमारे पास मूर्खों-की कमी है, और समझदार हिसाबी बुद्धिके लोगोंका बाहुल्य, जो कि पदका वेतन देखते हैं, काम नहीं । अगर तुम सहमत नहीं हो, तो क्या

एक भी भारतीय लेखक-मूर्खका नाम बता सकती हो जिसने युद्ध-सम्बन्धी या दूसरा ऐसा संकटपूर्ण काम लिया हो जो उसे परिचित क्षेत्रोंसे बाहर ले जाय ? यह तर्क मैं नहीं सुनूँगा कि उनकी उदार सूक्ष्मानुभूति उन्हे युद्धकी बर्बरताकी अनुमति नहीं देती—क्योंकि मैं ऐसे भी लेखक जानता हूँ, जिनकी बर्बरता ही उन्हें किसी आदर्शके लिए मरनेकी उदार सूक्ष्म भावनाके योग्य नहीं छोड़ती। (यद्यपि तुम्हारा इसपर आग्रह हो तो यही सही कि आदर्श भ्रान्त है।) भारतीय लेखक और विशेषकर हिन्दी लेखकसे मुझे सख्त शिकायत है। भ्रमणसे उसे घृणा है; भारतसे बाहर तो कोई गया ही नहीं (साधन भी नहीं है, माना) और भारतको भी अच्छी तरह जानना वह आवश्यक नहीं समझता। अपने अनुभूति-सामर्थ्यको उत्तेजित करनेके दूसरे भी साधन हैं—मसलन् संकटपूर्ण परिस्थितियोंमें-से गुज़रना—किन्तु ये उसकी उदार, भावुक, सौन्दर्योपासक सूक्ष्मबोधी आत्माको अग्राह्य हैं···मुझे अवमान्य लगता है वह—यद्यपि अपने भाईकी अवमानना करना महापातक है···

ये सब चिड़चिड़ी बातें मेरा जीवन-दर्शन नहीं हो सकतीं—सब-की-सब दर्शन हैं भी नहीं। किन्तु उसके लिए बट्टा काटकर भी तुम्हें मानना पड़ेगा कि हमारे साहित्यका एक ख़तरा यह है कि उसे कोई ख़तरा नहीं है—वह अत्यन्त सुरक्षित है—बन्द कमरेमें कृत्रिम रूपसे पनपाये गये पौधेकी तरह। न महाकाय देवदारु, न सहनशील धीर सेंहुड़ ही—और न कोई मनचले हठीले बनफूल····केवल लजवन्तीसे भरा कादोंका प्रसार—नम, लचकीली घनी हरियावल जो निरन्तर मुरझाती रहती है, मुरझाती जाती है अपनी ही विभिन्न शाखाओंके स्पर्शसे !

यह नहीं कि मैं दलदल पार कर आया हूँ। किन्तु मैं यह याद रखना चाहता हूँ कि अभी पार करना बाक़ी है, और इसे याद रखकर वह उद्योग करना चाहता हूँ। और उसके लिए इस छुई-मुई साहित्यकारत्वको ख़तरेमें डालनेको बिलकुल तैयार हूँ—एक छुई-मुईके

घटने-बढ़नेसे कोई बड़ा अन्तर नहीं पड़ता, यह देखनेकी ईमानदारी मुझमें है। (····)

[२]

प्रिय····,

आपका पत्र मिला। उसे पढ़कर पहली प्रतिक्रिया हुई थी कि तत्काल उत्तर दे दूँ, किन्तु लिखने बैठा तो सोचने लगा कि उत्तर नया क्या हो सकता है? मुझे याद है कि सेनामें भरती होनेके बाद जब-तब आपसे जो बहस हुई, उसमें आपकी बातोंका उत्तर कई बार दिया गया। तब आपका कहना था कि व्यर्थ संकटमें क्यों पड़ते हो, अब आपकी दलील है कि युद्ध तो अब समाप्त हो गया, अब सेनामें रहनेमें क्या बुराई है? अच्छा वेतन मिलता है, शान है, सब सुविधाएँ हैं, और क्या चाहिए? लिखना-पढ़ना चाहो तो भी कोई बाधा नहीं है।

दलीलें दोनों ठीक हैं। प्रश्न यह है, कि क्या मैं सेनाको उपजीविका मान सकता हूँ, या मानूँ? और इसके उत्तरमें मुझे कभी सन्देह नहीं हुआ। वह स्पष्ट है: कि नहीं, कदापि नहीं। एक 'प्रोफ़ेशन' हीके रूपमें उसे लेता, तो अवश्य सोचता कि यह प्रोफ़ेशन जोखमका है या आराम-का, उसमें स्थायित्व कितना है, तरक्की कितनी, आदि। युद्धको मैं बुरा मानता हूँ, तो युद्धोपजीवी होना बुरा हुआ ही, सेनामें भरती होने-का कारण एक-मात्र यही हो सकता है कि अगर मैं उचित और अनिवार्य समझता हूँ कि एक काम हो—और मैं चाहता था कि फ़ासिस्ट संकटसे भारतका बचाव हो—तो उस कामको करनेके लिए इसलिए तैयार न होता कि वह घटिया काम है, एक धोखा है और बड़ा पाप है। युद्ध-कालमें भारतकी रक्षाके लिए सारे उद्योग करना अनिवार्य था, युद्ध समाप्त होनेपर वर्दी पहने रहना अनिवार्य नहीं है। 'शान्ति-कालीन सैनिक' कहलाना मैं कलंक मानता हूँ।

यह एक पक्ष है। इतना मैं भरती होनेसे पहले भी सोच सकता था। सेनाके अनुभवसे इससे आगे भी कुछ सीखा है। आपको मालूम है कि मैं आतंकवादियोंके साथ रहा हूँ, इसलिए स्पष्ट है कि मेरे विचार 'अहिंसा-वादी' तो नहीं रहे होंगे—यहाँ मैं अहिंसाका प्रचलित अर्थ ले रहा हूँ, क्योंकि मैं अपनेको कट्टर अहिंसावादी मानता रहा हूँ। कोरी सैद्धान्तिक बहसमें नहीं पड़ना चाहता। पर सेनाके अनुभवने युद्धके बारेमें मेरा दृष्टिकोण बदल दिया है। कह नहीं सकता कि यह केवल अस्थायी मानसिक प्रभाव है या कि अनुभव-जात बौद्धिक निष्कर्ष, किन्तु आज तो मानता हूँ कि युद्ध प्रत्येक देश, काल और परिस्थितिमें त्याज्य है। मानता हूँ कि आगामी युद्धमें—प्रत्येक युद्धान्त आगामी युद्धके बीज बो देता है, उसे शान्ति समझना प्रवंचना है!—मैं शान्तिवादी हूँगा। फिर चाहे किसी देशका प्रश्न क्यों न हो, और चाहे भारतमें गृह-युद्ध ही क्यों न होता हो। मेरा यह मत गाँधीजीकी अहिंसासे भिन्न है, यह अवश्य कहूँगा। अब भी मैं लड़ सकता हूँ, और मार सकता हूँ। मैं समझता हूँ कि एक सामाजिक धर्मकी साधनामें व्यक्तिगत रूपसे किया गया वध शायद सभ्य हो सकता है। किन्तु युद्ध एक तो सामाजिक धर्म नहीं होता, दूसरे उसे वैसा मान भी लिया जाय तो उसका आनुषंगिक वध-काण्ड व्यक्तिगत नहीं होता—उसके साथ एक व्यक्तिका घोर अकेलापन और उस अकेलेपनमें घोर मानसिक यन्त्रणाके उपरान्त किया हुआ अप्रीतिकर अनासक्त निर्णय गुँथा हुआ नहीं होता—वह अकेली यन्त्रणा जो एक अलगाव देती है जिसमे व्यक्ति मनःपूत होता है····युद्ध सामूहिक वध है—समूहों द्वारा समूहोंकी हत्या।

और वह और कुछ हो भी नहीं सकता। युद्धमें हम अपने अस्त्र नहीं चुनते—किन अस्त्रों, साधनों, परिपाटियोंका उपयोग होगा, इसका निर्णय शत्रुके द्वारा होता है, क्योंकि उसके अस्त्रों, साधनों परिपाटियोंका सामना करना होता है और उनकी काट करनी होती है। और इस प्रकार युद्धका

स्वभाव निरन्तर बदलता गया है, प्राचीन शास्त्र-सम्मत एक युद्धका स्थान आजके अन्धाधुन्ध जीव-संहारने ले लिया है। आज किन्हीं दो प्रतिपक्षी दलोंके बीच कोई ऐसी मान्यताएँ नहीं बचीं जिनका वे निष्ठापूर्वक निर्वाह करें। जो दो-एक अन्तर्राष्ट्रीय मर्यादाएँ बची हैं वे भी क़ानूनी हैं, नैतिक नहीं, और उनका आधार तात्कालिक परिस्थितियाँ हैं, मानव-कल्याण नहीं। आज युद्ध पतित करता है, सर्वतोमुखी युद्ध (टोटल वार) सर्वतोमुखी पतन करता है।

युद्धके समर्थकोंने सदा डारविनके 'समर्थके अतिजीवन' (सर्वाइवल आफ़ द फ़िटेस्ट) के सिद्धान्तको अपना संश्रय बनाया है। वह सिद्धान्त मिथ्या नहीं है। किन्तु उसका प्रभाव और उसकी प्रासगिकता विवेच्य है। सम्भव है कि समष्टिकी दृष्टिसे युद्ध समर्थोंके अतिजीवनका ही साधन बनता हो, और जो राष्ट्र या जाति बचे वही सबसे समर्थ और विकासकी दृष्टिसे स्थायी हो। किन्तु व्यक्ति ? क्या व्यक्तियोंके बारेमें यह प्रमाण है ? क्या यह प्रसम्भावनीय भी है ? युद्धके द्वारा व्यक्तिके गुण भी और दोष भी उभर आते हैं, उसकी अच्छाई और बुराई दोनों बलवती हो उठती हैं; युद्ध जीवनके तनावको बढ़ाकर उसमें गति लाता है। इतनी ही बात होती, तो युद्धसे शिकायत न होती, क्योंकि जो हमारे जीवनमें गति लावे उसका महत्त्व है। किन्तु इससे आगे भी विचार होना चाहिए। अच्छाई उभरकर आत्मत्यागकी प्रेरणा देती है, जिसका पुरस्कार है मृत्यु; बुराई उभरकर आत्म-रक्षाकी वृत्तिको भड़-काती है जो कायरता और स्वार्थपरताकी माँ है। फलतः युद्ध-क्षेत्रको जानेवालोंकी अपेक्षा युद्धसे लौटने वाले व्यक्ति कुल मिलाकर श्रेष्ठतर नहीं होते; यद्यपि कटु यथार्थताओंका नंगा दर्शन कुछको चारित्रिक गह-राई अवश्य प्रदान करता होगा। निष्कर्ष यह निकला कि युद्धोत्तर बच रहनेवाले लोग व्यक्तिगत रूपसे अधिक योग्य या समर्थ नहीं होते। यहाँ यह दलील दी जा सकती है कि सामष्टिक या सामाजिक रूपसे वे अधिक

समर्थ होते हैं, और व्यक्ति-इकाइयोंका महत्त्व नहीं है; कि खण्डोंका पूर्ण योग सर्वदा सम्पूर्णके बराबर नहीं होता, सम्पूर्ण उससे कहीं अधिक भी हो सकता है। मैं कहूँ कि समष्टि या समाजमें ऐसी रहस्यवादी आस्था मेरी नहीं है। वैसी रहस्यवादी आस्था होती हो तो व्यक्तिमें ही होनी उचित जान पड़ती; मेरी बुद्धि कहती है कि सम्पूर्णके शिव होनेके लिए खण्डोंको शिव होना ही चाहिए और उसके विना सम्पूर्ण कल्याणकर हो ही नहीं सकता।

युद्धकी बुराई अन्ततः सेनाकी बुराई है, क्योंकि एक दूसरेका आलम्ब है। किन्तु इतना ही कहकर रुक जाना अन्याय होगा। मुझे दैनिक जीवनसे जो अनुभव मिला, उसका अपना ही महत्त्व है, किन्तु और भी अप्रत्यक्ष और अप्रत्याशित अनेक लाभ हुए हैं। मानसिक सन्तुलन बढ़ा है, अत्यधिक अन्तर्मुखतासे मुक्त होकर मैं लोगोंमें रहना सीख सका हूँ, अपनी मर्यादाओंके अधिक स्पष्ट ज्ञानके साथ अपनी शक्तियों पर विश्वास बढ़ा है और मैं अधिक आत्मावलम्बी हुआ हूँ; आचारिक संकीर्णताओंसे ऊपर उठ सका हूँ; अन्य देशोंके लोगोंके गुणोंको खुले मनसे पहचान सका हूँ, विशेषकर अंग्रेज़के अनेक गुणोंको जिन्हें न देखना राष्ट्र-प्रेमका अंग माना जाता रहा है; कार्यमें व्यवस्था और समय-निर्वाहका महत्त्व समझा हूँ। और—शायद इन सबसे बढ़कर यही लाभ मुझे हुआ है!—जान सका हूँ कि मानव दुर्बल है, पर घृण्य नहीं; और उसके प्रति दृष्टिकोणकी उदारता ही साहित्यकारकी मनीषिताकी कसौटी है, उदार दृष्टि ही द्रष्टाकी दृष्टि है।

न जाने ये सब बातें आपको अपने पत्रका उत्तर जान पड़ेगी या नहीं। मैंने तो निश्चय कर लिया कि युद्ध समाप्त होनेके बाद मेरा स्थान सेना में नहीं है, और जैसे भी हो, उसे छोड़ूँगा ही। संचय और व्यय, यह अनुक्रम ठीक है, चाहे पैसेका प्रसंग हो, चाहे अनुभवका। और मैं सोचता हूँ कि इन तीन वर्षोंमें जितना 'कच्चा माल' आया है, उससे सम्पूर्ण

संस्कृत, 'फ़िनिश्ड' कुछ निर्मित करनेका समय आ गया है, नहीं तो एक ओर माल बिगड़ने लगेगा और दूसरी ओर मशीनें मोर्चा खा जावेंगी। इसलिए—लेखनकी जय! अनिश्चित उपजीविकाकी जय! बेभरोस जीवनकी जय!

आपसे विनय इतनी है कि इसे मेरी धृष्टता न मानें—यह मेरे जीवन-का तर्क है—जिस ढाँचेमें ढला हूँ उसका न्याय है। और मैंसे मतलब निरा मैं नहीं, मानव है। वह अब भी अनिश्चितको वर सकता है, यह उसके भविष्यके प्रति आस्थाका कारण है।

●

सन्दर्भ : मन

मनसे परे

राजा त्रिशंकु और विश्वामित्रकी कहानी बचपनमें ही सुनी थी। बचपनमें संगति-असंगति और तारतम्यका जो कठोर निर्मम शास्त्र होता है, वह तनिक-सा भी व्यतिक्रम नहीं सहता, और उसपर कसी जानेपर दु:स्पद्र्ध मुनिकी सृष्टि कुछ ऐसी अटपटी, बेमेल और अपरूप जान पड़ी थी कि उसका बेढंगापन ही कहानीके मुख्य प्रभावके रूपमे अवशिष्ट रह गया था•••किन्तु ज्यों-ज्यों भाषाके साथ परिचय बढ़ता गया है, शब्द और संस्कृतिके परस्पर योगकी गम्भीरता क्रमशः अधिक प्रकट होती गयी है, त्यों-त्यों पुरानी कहानियोंमें भी गम्भीरतर नया अर्थ मिलता या दीखता गया है और एक दिन हठात् मुझे ऐसा लगा है कि त्रिशंकुकी कहानी भी वास्तवमें वह नहीं कहती जो वह कहती है। उसका न तो मुनिकी स्पद्र्धासे विशेष सम्बन्ध है, न राजाके शरीर-मोहसे, न ही वह अपरूप और बेढंगे जीव-जन्तु या वनस्पतियोंके अस्तित्वकी सफ़ाई देनेकी युक्ति है•••परम प्रमाण-विद् विश्वकर्माने ऊँट और ताड़ नहीं बनाये होंगे, इसलिए इनके होनेका बोझ एक मुनिके अहंकारपर लाद दिया जाय, यह प्रकारान्तरसे मानवीय अहंका ही विस्तार है: विश्वकर्मा भी उन्हीं मूर्ति-प्रमाणोंको मानते हैं जिन्हें हमने आविष्कार किया है, इस बातका दावा है! वास्तवमें कहानी जो कहती है, वह समूची बात ही एक दूसरे स्तरकी है।

पेड़-पौधे और जीव-जन्तु देखनेका अवकाश बचपनसे मिलता रहा है, जंगलों, वीरानों और खंडहरोंमें रहकर मानवेतर सृष्टिको कुछ अधिक निकटसे देखनेका सुयोग पा गया हूँ—उसे स्वीकार कर लिया इसलिए सुयोग कहता हूँ, नहीं तो दूसरे बहुतसे लोग उसे केवल लाचारी कहते यह जानता हूँ। जो हो, एक प्रकारका बबूल देखा था जिसका काँटा तीन काँटों या

शूलोंका समूह होता है। बहुत बचपनमें तो इस काँटेका एक ही उपयोग यह जानता था कि उससे 'घड़ी' बनायी जाय—एक पत्तीमें एक शूल भेद-कर उसे नीचेसे घुमाया जाय तो बाक़ी दोनों शूल घड़ीकी सुइयोंकी तरह पत्तीके ऊपर घूमते थे। तीनों शूलोंके परस्पर सम-कोण बनानेके कारण घड़ीकी 'सुइयाँ' बराबर तीन या नौ बजाये रहती थी [या कह लीजिए पौने छः, सवा छः, या पौने बारह, सवा बारह], इससे बाल-सुलभ कल्पना-शीलताको कोई बाधा न होती थी।

किन्तु अनन्तर, जब यह घड़ीकी सुइयोंवाली बात अपनी नवीनता खोकर बचकानी हो गयी, तब तीनों शूलोंकी सम-कोण स्थिति अपने आपमें कौतूहलका विषय बन गयी। घनके तीन आयाम—लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई—उससे सूचित होते हैं, गणितकी शिक्षाका यह आरोप प्राकृतिक रचनासे बुद्धि या पर्यवेक्षणका एक नया सम्बन्ध जोड़ता था।

किन्तु जिस दिन कोशमें पाया कि शंकुका अर्थ काँटा होता है, उस दिन पहली बात यह हुई कि त्रिशंकुका चित्र मनमें बदल गया। बचपनकी कहानीका अधरमें टँगा हुआ राजवेशी मानव, ताड़, ऊँट, छिपकली, लकड़बग्घा आदिसे घिरा हुआ तनकर खड़ा मुनि—ये सब आँखोंके आगेसे हट गये और उनका स्थान तीन शूलोंवाले एक बड़े काँटेने ले लिया। तीन आयामोंकी ओर इंगित करनेवाला वह बबूलका काँटा ही वास्तविक त्रिशंकु है जिसपर एक रूपाश्रयी कहानीका आरोप कर दिया गया है; कहानीमें जो कुछ अर्थ है—और पौराणिक कहानियोंमें क्या रूप-वेष्टित अर्थ ही प्रधान नहीं होता ?—वह राज-रूपसे नहीं, कंटक-रूपसे ही उपलब्ध होगा, ऐसी एक सम्भावना मनमें कहीं बस गयी। सीख मिलेगी तो 'शलाका पुरुष'से नहीं, स्वयं शलाकासे ही। [**शलाका, सलाख, शंकु, सींक, सीख़, सीख !**]

इस तरहके सहसा उदित होनेवाले 'सत्य' वास्तवमें सहसा मूर्त्त नहीं होते; मूर्त्तिका उद्‌घाटन ही सहसा होता है और हम उद्‌घाटनके क्षणको

निर्माणका क्षण मान लेते हैं यद्यपि वह न जाने कितने लम्बे संचय-अपचय, क्षरण-निरूपणका परिणाम होता है। इसलिए त्रिशंकुकी नयी रूप-कल्पना-के 'जब'को काल-बिन्दु न माना जाय, धारामें किसी समय पहचान लिया जानेवाला एक स्रोत या आवर्त्त ही माना जाय···तत्त्वकी बात यह कि त्रिशंकुका रूपक एक नये चोलेमें सामने आ गया—या कि उस रूपकके भीतर एक दूसरे स्तरकी सचाईका संकेत मुझे मिला। अर्थ और कथा, रूप्य और रूपक, वास्तवमे दोनों ही आमने-सामने रखे हुए दो मुकुर हैं, जो एक-दूसरेके अनन्त प्रतिबिम्ब देते चले जाते हैं, क्षीणसे क्षीणतर पर सभी पुष्टिप्रद····इसीलिए तो एक ही अर्थ जब दो अलग-अलग रूपकोंमे बाँधा जाता है—अर्थात् दो मुकुरोंमेसे एक जब बदल दिया जाता है—तब ये असंख्य परस्पर प्रतिबिम्ब भी बदल जाते हैं—वही सत्य असंख्य नयी अनुगूँजें दे जाता है····

'देश'—स्पेस—में किसी भी वस्तुकी 'स्थिति' निरूपित करनेके लिए तीन आयामोंमें उसकी अवस्थिति बतानी पड़ती है, नहीं तो उसे स्थूल या मूर्त्त रूप ही नहीं मिलता। कौन चीज़ चीज है, और कहाँ है, यह बतानेके लिए तीन आयामोंकी माप अपेक्षित है। त्रिशंकुको त्रि-शंकुके नये रूपमे पहचानें तो आकाशमें उसका निरूपण वास्तवमें भौतिक अस्तित्वका निरूपण है। विना उसके भौतिकता ही नही होती। 'सशरीर आरोहण' भी सहसा कैसी नयी अर्थवत्ता पा लेता है इस प्रकार! जो त्रि-शकु नहीं है वह स-शरीर हो ही नहीं सकता—क्योंकि तीन आयामोंमें अस्तित्व ही तो शरीर है!

और 'अधर'में स्थिति? नैरन्तर्यका यह संकेत चौथे आयामका संकेत है—कालके आयामका। वास्तविकता केवल देशमें स्थिति नहीं, कालमें स्थिति भी है—मूर्त्त होनेके लिए केवल होना पर्याप्त नहीं है बल्कि होते रहना भी अपेक्षित है।

तो त्रिशंकुकी कहानीका यह नया अर्थ मुझे मिला। वह अर्थ उसमें है

या नहीं, कथाकारने उसमें रखा था या नहीं, इसका उत्तर कौन क्या दे सकता है ? काव्यकी शक्ति इस उत्तरके सहसा न दिये जा सकनेमें ही है। यही है जो कलाकृतिको कलाकारसे बड़ा बनाती है—इसीमें उसकी अन्तः-सत्त्वता है जिसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि कलाकारने उसे देखा-पहचाना हो, पूरी तरह उससे अवगत हो या उसे आयत्त कर चुका हो। मुकुरोंके परस्पर प्रतिबिम्ब : क्या उनकी अन्तहीन परम्पराको मुकुरोंने वहाँ सजाया है ?

यह सत्य बड़ा है या नहीं, नया है या नहीं, इससे भी मुझे क्या मत-लब है जब इसीसे मुझे प्रयोजन नहीं रहा कि वह सत्य भी है या नहीं ? वास्तवमें वह प्रश्न दूसरे क्षेत्रका हो जाता है। किसी रूपक या बिम्ब या 'इमेज'के पीछे सत्यका आत्यन्तिक मूल्य एक बात है, उसकी सम्बन्ध-कारकना, उसकी तदर्थ-प्रेषकता दूसरी बात। घर है कि नहीं, यह प्रश्न कलाका नहीं, तत्त्व-दर्शनका है; द्वार है कि नहीं, यही प्रश्न कलाकी कसौटी है। यह जोड़ना आवश्यक नहीं है कि द्वारका होना किसी तरह भी घरके होनेका विरोधी नहीं है, यह नहीं माँगता कि घर न हो। किन्तु द्वारके आगे घर ही हो, यह शर्त्त भी वह नहीं करता। उसके आगे खुला प्रदेश भी हो सकता है। एक अवस्थितिसे दूसरी तकका परिप्रेक्ष्य उसके द्वारा खुले, असल माँग यही है।

[२]

देश-कालकी परम्परा। और एक द्वार।

मेरा मन ही तो एक द्वार है जो एक अचरज-भरी दुनियाकी ओर खुलता है। [वह दुनिया घर है, कि खुला प्रदेश !] एक तनाव और दर्द और मनस्ताप-भरी अचरज-दुनियाकी ओर—जिसमें कैसे-कैसे अद्भुत प्राणी रहते हैं ! भोक्ता मैं, और भोग्य ममेतर—मेरा परिदृश्य, मेरी परि-स्थिति, मेरा परिजगत्, यथार्थ—ये दोनों मुकुर भी आमने-सामने हैं और

एक दूसरेको प्रतिबिम्बित करते हैं असंख्य रहस्यमय आवृत्तियोंमें, छाया-रूपोंमें····और ये छाया-रूप ही मेरे मनोजगत्‌के वासी असंख्य अद्‌भुत प्राणी हैं—जो सभी मैं भी हैं, ममेतर भी हैं, और दोनोंकी परस्पर प्रतिच्छायित असंख्य रहस्यमय सम्भावनाएँ भी····उसी जगत्‌मेंसे कोई सम्भावनाएँ ऊपर आती हैं और कोई विलीन होती हैं, कोई खुलकर जैसे घुटन और तनावको बिखेर देती हैं, मुक्त करती हैं; कोई मुँदकर, रुँधकर तनावमें और बल दे देती हैं; कोई प्रतीकोंके मुखौटे ओढ़कर बाहर विचरण करने चली जाती हैं, तो कोई एकान्त साक्षात्‌की साधनामें सब आवरण-वेष्टन झराकर कृच्छ्र तपस्याके लिए गुफा-वास अपना लेती है····

कुछको मैं पहचानता हूँ। कुछसे दुआ-सलाम है, कुछसे पान-खइनी के विनिमयका सम्बन्ध, कुछ ऐसे अति-परिचित हैं कि अवज्ञाको ही सहजता पाते है····

एक हैं जो सागरकी ओर चले हैं—उनको धुन है कि सागरके किनारे बैठकर लहरोका पछाड़ खाकर गिरना देखा करेंगे—हो सकता है कि कभी-कबाह मौजमे आकर दो मुट्‌ठी बालू उठाकर सागरमें फेंक दिया करें। यह नहीं कि उससे सागर भर जायगा, या कि बाढ़ आ जायगी या पानी छलक जायगा—यही कि···कि कुछ नहीं, यही कि सागरमे इतनी अन-वरत हलचल होती ही रहेगी और बालू तनिक-सा हिलकर भी नहीं देगी ? पर सागर तक पहुँचनेकी युग-युगान्तकी धुनके बावजूद सागर तक वह कभी पहुँचे नहीं है, चलते ही जा रहे है····यहाँ तक कि अब उनसे अधिक उत्कण्ठा मुझे है : कब वह सागरके किनारे पहुँचें, कब उसमें दो मुट्‌ठी बालू डालें, और कब····

एक दूसरे हैं जिनके कन्धेपर बैलकी लादीवाला धोबीका झोला है। उसे वह कन्धेपर लादे जिस गतिसे चलते हैं, वह रीढ़ झुके धोबीकी नहीं, किसी मनचले फिकैतकी गति है। उन्होंने देख रखा है कि कैसे बाँसके आगे बँधी हुई जालीकी थैलीसे तितली पकड़ी जाती है; और उनका

निश्चय है कि जब भी जहाँ भी तितली उन्हे दीखेगी, कन्धेका झोला उसपर डालकर उसे पकड़ लेंगे····

एक यह देवी है कि बैठी हैं : उन्हें कुछ काम नहीं है, पर चेहरेपर उन्होंने गहरे वात्सल्य-भावका ओप दे रखा है जिसमें चिन्ता भी मिली हुई है। मुझसे यह जाने रहनेकी अपेक्षा की गयी है कि उनका मेरे प्रति मातृभाव है, जिसका होना ही काफ़ी है, कर्ममें प्रतिफलित होना गौण बात है; और वह बैठे-बैठे ही मेरे हितकी रक्षा और साधना करती है। मैं उनके आगे विनयावनत हूँ।

छोरपर—जो बग़ीचेका छोर है, यह एक बड़ा अभिमानी परिवार बैठा है। जिस दृप्त अवज्ञासे ये सबको देखते हैं, उससे तो अनुमान होता है कि अभिजात होंगे। पिता हर किसीसे द्वन्द्व युद्धके लिए तैयार हैं और आते-जातेको ललकार देते हैं—'युद्ध देहि।' या विना शब्दोंके ही अस्त्र आगे बढ़ाकर अवमाननासे घूरते हैं––कि आ, हिम्मत है तो लड़ ले ! कन्या आने-जाने वालोंकी ओर देखती तो है, पर मानो उसकी नज़र किसीपर टिकती ही नहीं—या यों कह लीजिए कि कोई उसके आगे नहीं ठहरता, वह उछटती हुई-सी सबको अनदेखा करती चली जाती है दूर दूर, दूर––कितनी अभिजात है वह कि दूरसे कुछ कम हो ही नहीं पाती ! और माँ—वह युयुत्सु पिता और मानिनी कन्याकी ओर बारी-बारीसे देखती हुई असहाय खड़ी है—क्यों इतनी असहाय है वह ? क्या वही मात्र इस परिवारमें अनभिजात है और क्या उसीकी हीनता दोनोंके दृप्त भावमें प्रतिबिम्बित है ? या कि वही वास्तवमें अभिजात है—और आभिजात्यके कारण सब सहनेवाली, असहाय और अरक्षित····

यह एक जो छाबड़ी लिये घूमता है, यह सपने बेचने वाला है। शायद कभी जब मैं नहीं देखता तब यह 'हर माल दो आना' वाला बिक्री-का ढंग अपनाता है : दो आनेकी तो नहीं कहता, दो पैसा भी हो सकता है, बहरहाल ढंग वही 'हर माल एक मोल' वाला है। और जब मैं देख

लूँ, तों झटसे अनेक अलग-अलग ढेरियाँ बनाकर एक तरफ़ रखी हुई दाम की परचियाँ उनपर लगा देता है—कुछ आनोंसे लेकर सैकड़ों-हज़ारों रुपये तक। मैंने कभी कुछ ख़रीदनेकी कोशिश नहीं की—न सस्ते, न महँगे, न हर माल एक दाम वाले—और वास्तवमें क्या सभी इस तीसरी कोटिके नहीं हैं ? पर कभी जब उसे मालको एक ढेरीसे दूसरी ढेरीमें रखते हुए पकड़ पाया हूँ तब उसने बराबर यह यत्न किया है कि मुझे अपने एक स्वप्न-मंचपर बिठा-भर दे—उसे यह विश्वास है कि उसपर बैठते ही स्वप्न मुझे लेकर उड़ जायगा, जब कि मै सोचता हूँ, कभी मुझे मौक़ा मिलेगा तो मैं ही सपनेको ले उड़ूँगा····

और वह बग़ीचेके छोरपर कौन है ? वह शायद एक माली है, क्योंकि उसके हाथमें बाड़ काटनेका बड़ा कैंचा है। पर उससे वह बाड़ नहीं काट रहा है—बड़े मनोयोगसे दाढ़ीको कतर-सँवार रहा है—यद्यपि उतने बड़े कैंचेकी पकड़में बाल नहीं आते, फिसलकर ज्योंके - त्यों रह जाते हैं।

यह एक साहब हरियालीपर बैठे-बैठे सेब खा रहे हैं, ऐसे गपागप जैसे चने चबा रहे हों। एक मुँहमें डालकर हाथ बढ़ाते हैं और सामनेके तालमेंसे मानो सिंघाड़ेकी बेलसे दूसरा तोड़ लेते हैं। और सेब वास्तवमें चीड़की 'कुकड़ियाँ' हैं—इसीलिए वह साहब सेबोंको चिलगोज़ेकी गिरीकी तरह गप-गप खा रहे हैं····

एक वह जो बेतके उस झूलने पुलपर बैठा है, वह कौन है ? वह है तो मैं ही—उसका नाम पुलिया वाला मैं है। यों तो और सब भी जितने मुझे दीखते हैं, दीखे हैं, दीखेंगे, सब मै ही हैं, क्योंकि सब मेरे ही तो मनोजगत्के वासी हैं, पर दूसरोंको मैं कभी दूसरे मानकर—या उनके मैं होनेको भूलकर—भी देख लेता हूँ; यह पुलिया वाला सदा मैं ही रहता है। और पुलके पार जो वे दो बैठे हैं : एक जो बहुत बेचैन है और अलखधारी साधूकी तरह अनवरत हिलता-डुलता ही रहता है,—वह

भी मैं है—पर उसका नाम ममेतर-मैं है, और दूसरा जो गुम-सुम बैठा पुलके नीचे पानीकी ओर ताक रहा है और पानीको भी नहीं देखता, कुछ भी नहीं देखता, वह भी मैं है—उसका नाम न-कोई-मैं है ।

इन तीनोंको लेकर बड़ी मुश्किल है । ये तीनों सीमान्तपर हैं—बल्कि कहा जा सकता है कि सीमान्तसे परे हैं क्योंकि एक तो पुलिया-पर बैठा है और बाक़ी दोनों उस पार हैं, और इसलिए समझमें नहीं आता कि इन्हें सँभाला कैसे जाये । द्वार बन्द करूँ तो, और न करूँ तो, ये अशासित ही रह जाते हैं । मेरे वशंवद वे कदापि नहीं हैं: कभी-कभी मुझे यह भी सन्देह हुआ है कि जब मै द्वार बन्द कर देता हूँ या उससे हट जाता हूँ तो इन तीनोंमें खूब घुटती है, और तीनों मेरी ही छीछा-लेदर करते है । पुलियावाला मै तो घुन्ने सरपंच-सा आसन जमाये बैठा रहता है, और इतर-मै तथा न-कोई-मैं कनखियोंसे इशारे करते हुए मुझपर टीका-टिप्पणी करते रहते हैं ।

लेकिन इस मुश्किलका हल क्या है ? आख़िर तो सब दो मुकुरोंमें दीखने वाली एक-दूसरेकी प्रतिच्छायाएँ हैं । इसलिए एक हल तो सीधा है : मुकुरोंके मुँह अलग-अलग फेर दूँ तो सब छायाओंसे एक साथ छुटकारा मिल जायगा । पर जो मुझको मुझसे ही काट देगा, वह क्या छुटकारा है ? क्योंकि मम और ममेतरका साक्षात्कार ही मै है, अगर ये सारे छाया-रूप उस सन्धि-स्थलकी मायामयी उपज हैं, तो मैं भी तो दोनोंके परस्पर सघातका जीवन्मूर्त्त पुंज हूँ...

[३]

और यह पुंज, इसके भीतरका सन्तुलित और सधा हुआ तनाव ही मेरा अस्तित्व है । अस्तित्व वह वस्तुसे परे है, मनसे भी परे है, पर वस्तुमें उसकी स्थितिकी अवधारणा उसके शरीरसे ही होती है, जिसे वे ही

तीन शंकु नापते और निरूपित करते हैं और जिसका होनेके अलावा होते रहना उसे चौथा आयाम देता है। त्रिशंकु ही नहीं, विश्वामित्र भी अपनी पूरी सृष्टिके साथ उसी शून्य आकाशमें अवस्थित हैं जो कि देश-काल-परम्परित इकाई है।

मैं क्यों लिखता हूँ ?*

मैं क्यों लिखता हूँ ? यह प्रश्न बड़ा सरल जान पड़ता है, पर बड़ा कठिन भी है। क्योंकि इसका सच्चा उत्तर लेखकके आन्तरिक जीवनके कई स्तरोंसे सम्बन्ध रखता है, और उन सबको संक्षेपमें कुछ वाक्योंमें बाँध देना आसान तो नहीं ही है, न जाने सम्भव भी है या नहीं। इतना ही किया जा सकता है कि उनमेंसे कुछका स्पर्श किया जाय—विशेष रूपसे ऐसोंका जिन्हें जानना दूसरोंके लिए उपयोगी हो सकता है।

एक उत्तर तो यह है ही कि मैं इसीलिए लिखता हूँ कि स्वयं जानना चाहता हूँ कि क्यों लिखता हूँ—लिखे विना इस प्रश्नका उत्तर नहीं मिल सकता है। वास्तवमें सच्चा उत्तर यही है। लिखकर ही लेखक उस आभ्यन्तर विवशताको पहचानता है जिसके कारण उसने लिखा—और लिखकर ही वह उससे मुक्त हो जाता है। मै भी उस आन्तरिक विवशतासे मुक्ति पानेके लिए, तटस्थ होकर उसे देखने और पहचान लेनेके लिए लिखता हूं। मेरा विश्वास है कि सभी कृतिकार—क्योंकि सभी लेखक कृतिकार नहीं होते, न उनका सब लेखन कृति होता है—सभी कृतिकार इसीलिए लिखते है। यह ठीक है कि कुछ ख्याति मिल जानेके बाद कुछ बाहरकी विवशताके कारण भी लिखा जाता है—सम्पादकोंके आग्रहसे, प्रकाशकके तकाजेसे, आर्थिक आवश्यकतासे। पर एक तो कृतिकार हमेशा अपने सम्मुख ईमानदारीसे यह भेद बनाये रखता है कि कौन-सी कृति भीतरी प्रेरणाका फल है, कौन-सा लेखन बाहरी दबावका; दूसरे यह भी

* यह वार्ता नेपाल रेडियोके लिए लिखी गयी थी और काठमाण्डूसे प्रसारित भी हुई थी।

होता है बाहरका दबाव वास्तवमें दबाव नहीं रहता, वह मानो भीतरी उन्मेषका निमित्त बन जाता है। यहाँपर कृतिकारके स्वभाव और आत्मानुशासनका महत्त्व बहुत होता है। कुछ ऐसे आलसी जीव होते हैं कि विना इस बाहरी दबावके लिख ही नहीं पाते—इसीके सहारे उनके भीतरकी विवशता स्पष्ट होती है····यह कुछ वैसा ही है जैसे प्रातःकाल नींद खुल जानेपर कोई बिछौनेपर तब तक पड़ा रहे जब तक कि घड़ीका अलार्म न बज जाय। इस प्रकार वास्तवमें कृतिकार बाहरके दबावके प्रति सर्मापित नहीं हो जाता है, उसे केवल एक सहायक यन्त्रकी तरह काममें लाता है जिससे भौतिक यथार्थके साथ उसका सम्बन्ध बना रहे। मुझे इस सहारेकी जरूरत नहीं पड़ती, लेकिन कभी उससे बाधा भी नहीं होती। उठनेवाली तुलनाको बनाये रखूँ तो कहूँ कि सवेरे उठ जाता हूँ अपने आप ही, पर अलार्म भी बज जाय तो कोई हानि नहीं मानता।

यह भीतरी विवशता क्या होती है? इसे बखानना बड़ा कठिन है। क्या वह नहीं होती, यह बताना शायद कम कठिन होता है। या उसका उदाहरण दिया जा सकता है—कदाचित् वही अधिक उपयोगी होगा। अपनी एक कविताकी कुछ चर्चा करूँ जिससे मेरी बात स्पष्ट हो जायगी।

मैं विज्ञानका विद्यार्थी रहा हूँ, मेरी नियमित शिक्षा उसी विषयमें हुई। अणु क्या होता है, कैसे हम रेडियम-धर्मी तत्त्वोंका अध्ययन करते हुए विज्ञानकी उस सीढ़ी तक पहुँचे जहाँ अणुका भेदन सम्भव हुआ, रेडियम-धर्मिताके क्या प्रभाव होते हैं—इन सबका पुस्तकीय या सैद्धान्तिक ज्ञान तो मुझे था। फिर जब हिरोशिमामें अणु-बम गिरा, तब उसके समाचार मैंने पढ़े, और उसके परवर्ती प्रभावोंका भी विवरण पढ़ता रहा। इस प्रकार उसके घातक प्रभावोंका ऐतिहासिक प्रमाण भी सामने आ गया। विज्ञानके इस दुरुपयोगके प्रति बुद्धिका विद्रोह स्वाभाविक था, मैंने लेख आदिमें कुछ लिखा भी। पर अनुभूतिके स्तरपर जो विवशता होती है

वह बौद्धिक पकड़से आगेकी बात है, और उसकी तर्क-संगति भी अपनी अलग होती है। इसलिए कविता मैंने इस विषयमें नहीं लिखी। यों युद्धकालमें भारतकी पूर्वीय सीमापर देखा था कि कैसे सैनिक ब्रह्मपुत्रमें बम फेंककर हज़ारों मछलियाँ मार देते थे जब कि उन्हें आवश्यकता थोड़ी-सी होती थी, और जीवको इस अपव्ययसे जो व्यथा भीतर उमड़ी थी उससे एक सीमा तक अणु-बम द्वारा व्यर्थ जीव-नाशका अनुभव तो कर ही सका था।★

पिछले वर्ष जापान जानेका अवसर मिला, तब हिरोशिमा भी गया और वह अस्पताल भी देखा जहाँ रेडियम-पदार्थसे आहत लोग वर्षोंसे कष्ट पा रहे थे। इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव भी हुआ—पर अनुभवसे अनुभूति गहरी चीज़ है, कमसे कम कृतिकारके लिए। अनुभव तो घटित-का होता है, पर अनुभूति संवेदना और कल्पनाके सहारे उस सत्यको आत्मसात् कर लेती है जो वास्तवमें कृतिकारके साथ घटित नहीं हुआ है। जो आँखोंके सामने नहीं आया, जो घटितके अनुभवमें नहीं आया, वही आत्माके सामने ज्वलन्त प्रकाशमे आ जाता है, तब वह अनुभूति-प्रत्यक्ष हो जाता है।

तो हिरोशिमामें सब देखकर भी तत्काल कुछ लिखा नहीं, क्योंकि इसी अनुभूति-प्रत्यक्षकी कसर थी। फिर एक दिन वहीं सड़कपर घूमते हुए देखा कि एक जले हुए पत्थरपर एक लम्बी उजली छाया है—विस्फोट-के समय कोई वहाँ खड़ा रहा होगा और विस्फोटसे बिखरे हुए रेडियम-धर्मी पदार्थकी किरणें उससे रुद्ध हो गई होंगी—जो आस-पाससे आगे बढ़ गयीं उन्होंने पत्थरको झुलसा दिया, जो उस व्यक्तिपर अटकीं उन्होंने

★ **इसकी एक प्रक्रिया 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' संग्रहकी 'इतिहासकी हवा' नामक कवितामें है। उसकी रचना-प्रक्रिया भी यहाँ कही गयी बातोंकी पुष्टि ही करेगी।**

उसे भाप बनाकर उड़ा दिया होगा। इस प्रकार समूची ट्रैजेडी जैसे पत्थरपर लिखी गयी····

उस छायाको देखकर जैसे एक थप्पड़-सा लगा। अवाक् इतिहास जैसे भीतर कहीं सहसा एक जलते हुए सूर्य-सा उग आया और डूब गया। मैं कहूँ कि उस क्षणमें अणु-विस्फोट मेरे अनुभूति-प्रत्यक्षमें आ गया—एक अर्थमें मैं स्वयं हिरोशिमाके विस्फोटका भोक्ता बन गया।

इसीमेंसे वह विवशता जागी : भीतरकी आकुलता बुद्धिके क्षेत्रसे बढ़कर संवेदनाके क्षेत्रमें आ गयी····फिर धीरे-धीरे मैं उससे अपनेको अलग कर सका, और अचानक एक दिन मैंने हिरोशिमापर कविता लिखी*—जापानमें नहीं, भारत लौटकर, रेल-गाड़ीमें बैठे-बैठे।

वह कविता अच्छी है या बुरी, इससे मुझे मतलब नहीं है। मेरे निकट वह सच है, क्योंकि वह अनुभूति-प्रसूत है, यही मेरे निकट महत्त्वकी बात है। मैं कहूँ कि कृतिकार या कवि जब सत्यसे ऐसा भीतरी साक्षात् करता है तब मानो वह एक बलि-पुरुषकी तरह देवताओंका मनोनीत हो जाता है। और काव्य-कृति ही उसका आत्म-बलिदान है, जिसके द्वारा वह देवताओंसे उऋण हो जाता है। यही देवतासे उऋण होनेकी छटपटाहट वह विवशता है जो लिखाती है—फिर वह ऋण-परिशोध तत्काल हो जाय या वर्षों बाद—यह दूसरी बात है। इस क्रियापर भी मैंने एक कविता लिखी है : स्वातिकी बूँद सीपीका मर्म बेध जाती है, फिर वर्षोंमें मोती पकता है····✶

●

* 'अरी ओ करुणा प्रभामय' में 'हिरोशिमा' शीर्षक कविता।
✶ 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' में 'सर्जनाके क्षण'।

जो न लिख सका

मैं उन व्यक्तियोंमेंसे हूँ—और ऐसे व्यक्तियोंकी संख्या शायद दिन प्रतिदिन घटती जा रही है—जो भाषाका सम्मान करते हैं और अच्छी भाषाको अपने आपमें एक सिद्धि मानते हैं। अच्छा गद्य पढ़नेमें मुझे अनिर्वचनीय आनन्द मिलता है, जो कि उस गद्यमें कही गयी बात या कहानी या सूचनाके सम्भाव्य आनन्दसे—कमसे कम मेरे लिए—किसी तरह कम महत्त्वका नहीं है। फिर भी निरी वाक्चातुरी मेरे निकट कोई बड़ी बात नहीं है, और बात-बातमें बहुत-कुछ कहते जान पड़नेपर भी कुछ न कहनेकी कलाको मैं बहुत अधिक आदरकी वस्तु नहीं मानता। वह भाषाकी मदारीगीरी है; और मदारीका तमाशा देखनेमें क्षण-भर रम जाना एक बात है, उसे कलाके सिंहासनपर बिठाना दूसरी बात। 'योगः कर्मसु कौशलम्'—और मदारीगीरी भी कार्य-कौशल तो है ही, फिर भी ऐन्द्रजालिककी और योगीकी सिद्धि अलग-अलग होती है इसे अधिक समझानेकी आवश्यकता नहीं।

और मेरे निकट किसी लेखकके लिए 'जो मैं न लिख सका' की चर्चा इस मदारीगीरीसे अधिक कुछ नहीं हो सकती। साधारण पाठक चाहे जो समझता हो, और कवियशःप्रार्थी अपनी प्रतिभाके बारेमें अपनेको चाहे जो विश्वास दिला लेते हों, सच बात यह है कि 'जो मैं न लिख सका' प्रश्न कोई अर्थ ही नहीं रखता अगर उसमें यह ध्वनि है कि 'मुझमें कुछ है जिसे मैं जानता हूँ पर कह नहीं सकता।' यदि वास्तवमें ऐसा कुछ है जिसे मैं कह सकता नहीं हूँ, तो वास्तवमें मैं उसे जानता ही नहीं हूँ; अर्थात् स्थिति यह नहीं है कि मैं लिखना चाहता हूँ और लिख नहीं पाता, स्थिति यह है कि मैं जानना चाहता हूँ और जानता नहीं हूँ। जान लेने

पर सम्भव है कि मैं लिखना ही न चाहूँ; तब भी न सकनेका कोई प्रश्न नहीं उठता और अगर लिखना चाहूँगा तो अवश्य लिख सकूँगा भी। इसलिए मैं तो यह कहना भी झूठ न समझूँ कि मैंने जो लिखा है वही मैंने लिखना चाहा है, और सामर्थ्य ही इच्छाका प्रमाण हो सकता है। निस्सन्देह यह सारी बात कृति-साहित्यके बारेमे ही लागू हो सकती है—सच्ची 'रचना'के,—नहीं तो अगर मैं कुछ इस ढंगकी बात चाहूं कि मैं अंग्रेज़ी, संस्कृत और मैथिली मिश्रित भाषामें पुष्पिताग्रा छन्दमें एक सतसई लिख जाऊँ तो उसमें सफल नहीं भी हो सकता हूँ।

बात असलमें रचनाकी क्रियाकी है, और उसमें दो बातें बुनियादी हैं—जो वास्तवमें एक ही बातके पहलू हैं। रचनाके लिए दो चीजें चाहिए: एक तो कलात्मक अनुभूति या संवेदना, दूसरे उसके प्रति वह तटस्थ भाव जो उसे सम्प्रेष्य बना सके। और यह एकके पूरा हो जानेके बाद दूसरी होती हो ऐसा भी नहीं है; संवेदनाशील कलाकार निरन्तर अपनी अनुभूति से अपनेको अलग करता चलता है, तभी तो वह देख पाता है कि वह अनुभूति देय भी है या नहीं, साधारण भी हो सकती है या नहीं। इसी प्रकार तो वह द्रष्टा है।

यदि कोई कलाकार समझता है कि उसके पास दर्द तो बहुत है पर उसे वह कह नहीं सकता, तो उसका दर्द झूठा ही हो ऐसा नहीं है। पर इतना अवश्य है कि उस दर्दको उसने 'देखा' नहीं है, यानी उससे अपनेको अलग नहीं कर सका है, अर्थात् उसे कह डालना चाहनेकी ही स्थितिमें अभी नहीं आया है—अभी तो वह उसे अपनेसे ही कहनेके, उसे पहचाननेके यत्नमे लगा है। 'यह देखो, यह मेरा दर्द'—यह दृष्टिकोण ही रचयिताका नहीं है; दर्द दिखाकर सहानुभूति चाहना तो जीवनकी सहज प्रवृत्ति है जो अपनेको पीड़ित समझने वाले हर व्यक्तिमें मिल सकती है। फिर वह चाहे ठोकर खा कर गिरने वाला बच्चा हो, चाहे लँगड़ा भिखारी,

चाहे सट्टेमें थोड़ा-सा पैसा हारने वाला कोटिपति, चाहे अपने अत्याचारों-के कारण अकेला पड़ गया आततायी शासक। रचनाकार सहानुभूतिका भिखमंगा नहीं है। 'यह देखो, कितना सुन्दर दर्द'—यह कह कर जब वह दर्दकी पहचान कराने दौड़ता है, तब वह पहले ही उससे तटस्थ हो चुका होता है—वह दर्द उसका अपना रहा हो तब भी। और इसीलिए वह दया, करुणा, सहानुभूतिका भिखारी न रह कर दाता हो जाता है—वह भावक अथवा ग्राहककी दया और करुणाकी क्षमता बढ़ाता है, समाज-को अन्तःसमृद्धि प्रदान करता है।

लेकिन कृतिकार सब सर्वांगनिर्दोष कहाँ हैं? इसलिए अपने दर्दका थोड़ा-सा मोह शायद सबमें बना भी रहता है। इसलिए दृष्टि थोड़ी-सी धुँधली भी हर किसीकी होती है, आत्मदानमें थोड़ी-सी चूक सब कर जाते हैं। पर जहाँतक सिद्धान्तका सवाल है, मैं यही मानता हूँ कि जिसने जो लिखा नही, उसने वह लिखना चाहा नहीं, सकनेका सवाल ही कहाँ है।

एक दूसरी बात भी है। आज अभी तक जो नहीं लिख डाला है, वह कल भी नहीं लिखूँगा, यह कैसे मान लूँ? आत्म-साक्षात्कार आज तक नहीं हुआ, भले ही न हुआ हो; अगर मैं यत्नशील हूँ तो कल भी क्यों न होगा? जो व्यक्ति घरकी खिड़कियाँ खोलनेमें लगा है वह यह कैसे कह दे कि बाहरका दृश्य मुझे दीख नहीं सकता! वह इतना ही कह सकता है कि 'ठहरो, अभी देखकर बताता हूँ'।

इसी तरहकी अद्यावधि असफलताकी एक बात यहाँ बता दूँ—जो रचना-प्रक्रिया सम्बन्धी मेरे विश्वासोंको भी स्पष्ट कर देगी, और 'जो लिख न सका' के नामपर पाठकके सम्मुख आकर उससे ठीक उलटी बात कह जानेकी मदारीगीरीको गम्भीरतर अर्थ भी दे देगी। यही अपनी रचनाके प्रति अनासक्त भावकी समस्या बरसोंसे मुझे उलझाती रही है। मैंने

कवितामें उसके सम्बन्धमें बार-बार लिखा है—कुछ छपा है, कुछ फेंक दिया है, कुछ छपकर आनेवाला है—पर उमसे मन्तोष नहीं हुआ है। कहानी भी इम बारेमें लिखी है, वह अभी भी अच्छी ही लगती है, पर पूरी बात उसमें भी नहीं कही गयी। फिर कभी-कभी नाटकीय संवाद सूझे, पर उन्हें मैंने बार-बार दुत्कार दिया क्योंकि बरसोंसे ठान रखा था कि नाटक नहीं लिखूँगा, नहीं लिखूँगा—उधर मेरी गति नहीं है और विना जीवित रंगमंचके हो भी नहीं सकती। निरा 'पठ्य' दृश्य-काव्य लिखना किसी न किसीको ज़रूर धोखा देना है—अपनेको या दूसरेको, जो जैसा मान ले। पर इस प्रश्नको लेकर नाटकीय संवाद और परिस्थियाँ बार-बार सामने आयी हैं, अन्तमें मानो नाटकने मूर्त्त होकर कहा है कि 'देखो; अगर तुम मुझे सचमुच प्रकट करना चाहते हो तो यह मेरा रूप है, इसीमें मैं आविर्भूत हो सकता हूँ, किसी दूसरेमें नहीं। तुम्हें मज़ूर हो तो लो, नहीं तो अपना रास्ता देखो।' और मैंने बाध्य होकर मान लिया है कि इस तर्कका कोई उत्तर नहीं है, नाटक मुझे लिखना ही होगा। क्योंकि वस्तु और वस्तु-रूप कलामें अलग-अलग कभी नहीं होते, और जब वस्तु ऐसी 'अनन्याश्चिन्तयन्ती' होकर आती है तब कौन उसकी अवज्ञा कर सकता है?

तो यही मेरी असफलता है: 'जो मैं न लिख सका' का यही मेरा प्रतिकूल उत्तर है—कि मैंने ठान रखा था कि नाटक कभी नहीं लिखूँगा पर लिखे बिना रह न सका। इसीलिए मैं सोचता हूँ कि 'जो न लिख सका' कोई अन्तिम स्थिति नहीं है, एक अन्तरिम अवस्था हो सकती है। प्रश्नके इस विवेचनसे—क्योंकि यह उत्तर तो नहीं है!—पाठकका कौतूहल कहाँ तक शान्त हुआ, नहीं जानता, यद्यपि अपनी तरफ़से तो शायद एक रहस्योद्घाटन कर ही गया हूँ!

●

शारदीय धूप

बगीचेमें बैठना तो क्या, बगीचा देखना भी रोज़ नसीब होता हो इतना भाग्यवान् मैं नहीं हूँ। फिर भी अपनेको अभागा नहीं मानता क्योंकि जब भी बगीचेमें बैठना या उसे देखना नसीब हो जाता है तो मैं उस अनुभवमें समूचा डूब सकता हूँ और उससे पुनरुज्जीवित हो सकता हूँ। उतना नहीं तो कम-से-कम बगीचेके बाहरके दैनन्दिन धूल और राख-भरे जीवनकी कँकरीली थकानकी परत अपने परसे उतार दे सकता हूँ।

इस समय मैं बगीचेके एक सिरेपर बैठा हूँ और शरत्कालके तीसरे पहरकी धूप मेरे सामने बिखरी हुई है। नीचे घासपर वह स्थिर और अचंचल बिछी हुई है, जैसे शिशु कभी-कभी सोये ही सोये आँखें खोलकर मुसकरा देता है। ऊपर पेड़की धुली हुई पत्तियोंपर धूप-छाँहका खेल अपनी चचलतासे ही मानो दर्शकको स्थिर और अचंचल कर देता है। जिससे होड़ नहीं होती उसके सामने छटपटाना कैसा ? स्थिर बैठकर उसकी क्रीड़ा देखना ही श्रेयस्कर है....

और यों निश्चल बैठे-बैठे ही मानस क्षितिजपरसे धीरे-धीरे एक शब्द-का उदय हो आता है : शान्ति।

जैसी मेरे इस समयकी मनोदशा—यह अचंचल जिज्ञासाकी मनोदशा।

तो फिर क्यों हम शान्तिके लिए ज्ञान खोजते है ? मनोदशाके लिए मनके बाहरका कुछ भी क्यों महत्त्व रखता है ? मन ही से मनोदशा उत्पन्न होनी चाहिए, और मन अपना निजी है, आभ्यन्तर है—कुछ है भी या नहीं हम नहीं जानते—आभ्यन्तर शक्तियोंकी लीलाके बोधपर आधारित एक अनुमान है।

पर मन जो भी हो, स्वयम्भू तो नहीं है। आभ्यन्तर होकर भी बाह्य स्थितिसे प्रभावित है, उन स्थितियोंके घात-प्रतिघात और परस्पर प्रभाव से अनुशासित है। अर्थात् मनोदशा भी आभ्यन्तर होकर बाहरी परिस्थितियोंके प्रभावका परिणाम है, वह प्रभाव चाहे कितना भी परोक्ष क्यों न हो।

शान्ति भी निरी मनकी दशा नहीं है, मनकी मानसेतरसे सम्बन्धोंकी दशा है। जब मन और मनसे इतरका आपसी सम्बन्ध तनाव-खिचावसे रहित होकर सन्तुलन पा लेता है, तब शान्तिकी अवस्था होती है।

इससे हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि इस शान्तिके लिए स्थितिका ज्ञान भी आवश्यक है। और परिस्थितियोंसे अपने सम्बन्धोंका ज्ञान भी आवश्यक है। इतना ही नहीं, ज्ञानके अलावा कर्म भी आवश्यक है, क्योंकि स्थितिको जानना ही तो उसका अनुकूलन नहीं है, स्थितियोंको बनाना भी तो होता है, उनसे सम्बन्धोंको बदलना भी तो होता है। शक्तियाँ हों, और पहलेसे ही अपने-आप सन्तुलित हों, ऐसा संयोग अगर सिद्धान्ततः असम्भव न भी हो तो भी एक दुर्लभ संयोगसे अधिक कुछ नहीं है। और इसलिए सहज सन्तुलित शक्तियाँ सर्वदा वैसी ही अनायास सन्तुलित रहती चली जायेंगी, ऐसा मान लेनेका क्या कारण हो सकता है?

शारदीया धूप। बगीचेकी पत्तियोंपर आँख-मिचौनी खेलती हुई धूप। नहीं, उससे जिस शान्तिका उदय होता है वह सहसा छिन जानेवाली नहीं है। फिर भी उसके मूल स्रोतके बारेमें मेरे कौतूहलने मेरे सम्मुख एक अन्तर्विरोध लाकर खड़ा कर दिया है, बल्कि दो समान्तर अन्तर्विरोध मेरे सम्मुख खड़े हैं।....

पहला : आभ्यन्तरको जाननेके लिए बहिर्मुखताकी आवश्यकता है, भीतरको समझनेके लिए बाहरका अनुशीलन अनिवार्य है।

दूसरा : शान्ति सदा सन्तुलनकी अवस्था है पर उसको जाननेके लिए कर्म, हलचल, अस्थिरता आवश्यक है।

और इस प्रकार हम फिर वहींपर लौट आते है जहाँसे हमने यात्रारम्भ किया था। ज्ञानकी उत्कट खोज तो हमारे अन्तस्की रस-धाराको सुखा देती है और शान्तिकी मनोदशाका अनुभव करनेकी हमारी क्षमता ही जाती रहती है। वह शान्ति क्या जिसका हमें बोध ही न रहे? वह हमारी शान्ति कैसे है जिसका अनुभव करनेकी क्षमता ही हम खो बैठे हैं? दूसरी ओर उत्कट कर्मका अर्थ है अनवरत हलचल, संघर्षण, तनाव और अशान्ति : और अशान्तिकी साधनामें शान्ति मिल ही कैसे सकती है।

या कि इस अन्तर्विरोधका हल यही है कि यह अन्तर्विरोध ही झूठा है क्योंकि ये सारे इष्ट ही झूठ हैं? शान्ति मिथ्या है, भ्रम है—ज्ञान भी मिथ्या है, संघर्ष भी मिथ्या है—अनुभव मिथ्या है क्योंकि अनुभवको हम जिस यन्त्रसे आत्मसात् करते हैं वही मिथ्या और अविश्वास्य है? अर्थात् हमारी खोज किसी धनात्मक निधिकी खोज नहीं हो सकती, हमारा उद्देश्य मूलतः नकारात्मक ही हो सकता है? शान्तिकी अवस्था केवल मात्र अदुःखकी अवस्था है, निर्वेदकी अवस्था है। न हम चाहते हैं, न हम नहीं चाहते हैं; न हम अनुभव करते है, न हम अनुभव नहीं करते हैं; न हम जानते है, न हम नहीं जानते हैं। इस प्रकार हम इस खण्डनात्मक और कुण्ठा-भरे परिणामपर पहुँचते हैं कि हमारी जिज्ञासा मिथ्या है क्योंकि वास्तवमें हम ही मिथ्या है, होना ही मिथ्या है।....

शारदीया धूप। धूपका एक वृत्त जिसके भीतरकी आलोक-भरी शान्तिने मुझे घेर लिया है और जो मुझे घुमा-फिराकर उसी एक स्थलपर ले आती है। यात्रारम्भ करते ही हमारे सामने कई मार्ग खुल जाते हैं, विभिन्न और प्रतिकूल दिशाएँ विशद हो जाती हैं। कई मार्ग हैं, लेकिन किसको चुनकर हम शान्ति पाते हैं यह भी मूलतः हमारी मनोदशापर ही

निर्भर है ! अर्थात् अन्ततोगत्वा शान्ति मनोदशा ही है और मनके बाहरसे नहीं, मनसे उत्पन्न होती है ।

पत्तियोंपर झूलती हुई तीसरे पहरकी धूप इमसे भिन्न किसी परिणाम की अनुमति नहीं देती । बल्कि वह मानो बाहरसे मेरे कानमे यह भी कहती है कि यह परिणाम भी पूरा-पूरा सही नही हो सकता क्योंकि वास्तवमें शान्ति मनोदशा भी नहीं है । वह होनेकी ही एक दशा है । और होना क्या है इसको हम न केवल बाहरसे बाँध सकते है न केवल आभ्यन्तरसे । न वह दोनोंके सम्बन्ध-भरसे बँध सकता है । वह एक बहुत बड़ी इकाई है—नहीं, एक बहुत छोटी इकाई जिसमे बड़ी-बड़ी इकाइयाँ डूब जाती हैं । वैसी ही इकाई जैसी यह छोटी-सी पत्ती और इसपर झूलती हुई शारदीय तीसरे पहरकी धूप ।

यही एक परिणाम है जो जीवन और शान्तिके सम्बन्धको अमान्य नहीं करता क्योंकि वह जीवनको भी और शान्तिको भी मिथ्या नहीं करता । जीवन होनेकी एक दशा है, और शान्ति होनेकी अनुभूतिकी और अनुभावककी एक दशा—सहज, स्वस्थ, स्व-पूरक, स्व-प्रेरक, आत्म-भरित और स्वत:सम्पूर्ण दशा ।

बगीचेमें शारदीय तीसरे पहरकी धूप । धुली पत्तियोंपर खेलती धूपकी आंख-मिचौनी । मानस-क्षितिजपर एक शब्दका उदय : शान्ति ।•••

●

एकान्त साक्षात्कार*

भूख और संस्कृति

बार-बार सुनता हूँ कि 'भूखे आदमीसे तुम संस्कृतिकी बात नहीं कर सकते।' विदेशोंमें भारतीय विशेष रूपसे इसका आग्रह करते हैं, क्योंकि पेट भरनेकी प्राथमिकताका विदेशी भ्रम उनपर छा गया है।

मैं तो देखता हूँ कि तुम भूखे आदमीसे संस्कृतिकी बात भले ही न कर सको, पर भूखा आदमी तो तुमसे संस्कृतिकी बात कर सकता है....

हर देश-कालमें ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने स्वेच्छासे भूखे रहनेका वरण किया है ताकि वे संस्कृतिकी बात करनेके लिए समर्थ—और स्वतन्त्र हो सकें।

इसीलिए तो संस्कृति बात करने लायक़ चीज है: एक अघाया हुआ आदमी दूसरे अघाये हुए आदमीसे जिस चीज़की बात करता है, वह किस कामकी हो सकती है?

***यूरोप प्रवासके समय अपनी दैनन्दिन प्रवृत्तिके ब्यौरेके लिए लेखकने एक खाता रखा था। किन्तु अधिकांशमें उसमें एक मानसिक चर्याका ही विवरण लिखा जाता रहा, क्योंकि देशाटन-सम्बन्धी बातें तो सब स्वदेश भेजे गये पत्रोंमें चली जाती थीं। उस खातेसे एक चयन, जिसका सम्बन्ध पूर्व-पश्चिमकी समस्याओंसे है, एक अन्य पुस्तकमें गया है; दूसरा यह है। मान लिया गया है कि इसकी जिज्ञासाओंका स्वर निजी होने पर भी उनकी तत्त्व-वस्तु एक ज़मीन नहीं है।**

कोई विशेष क्रम नहीं रखा गया है—कमसे कम कालानुक्रम तो नहीं ही है।

किसके लिए लिखता हूँ ?

मैं लिखता हूँ।

मेरे पास एक सांस्कृतिक परम्परा है। और मेरे पास संवेदना है।

और बाक़ी तो शिल्प है।

जिन बहुसंख्य लोगोंके साथ मेरा सांस्कृतिक परम्पराका साझा है—क्योंकि मैं मूलतः भारतीय हूँ और अनेक इतर प्रभावोंके रहते भी एक प्रकारका हिन्दू भी हूँ—उन लोगोंसे मेरी संवेदना भिन्न है।

किन्तु दूसरी ओर जिन अल्पसंख्य लोगोंकी संवेदना मुझ-सी है, उनसे संस्कार-परम्पराके विषयमें मेरा कहीं भी मेल नहीं है। उनके पास पश्चिमी संस्कृतिकी एक सतही छाप है—अर्थात् पश्चिमकी रहनेकी पद्धति तो उन्होंने आत्मसात् करली है पर उसकी वैचारिक अथवा आध्यात्मिक प्रतिक्रियाओंकी लीकोंमे वे नहीं पड़े।

तब मैं किसके लिए लिखता हूँ ? यदि उन बहुसंख्यकोंके लिए नहीं जो मेरी संवेदनामें नहीं डूब सकते , और उन अल्पसंख्यकोंके लिए नहीं जो मेरे संस्कारके साझीदार नहीं हो सकते, तब फिर किसके लिए ?

जैसा मैं हूँ वैसी स्थितिमें—किसीके लिए नही। किन्तु मैं बदलना चाहूँ तो क्या यह सम्भव है ? न सांस्कृतिक परम्परा, न संवेदना ही चाहने-भरसे पा ली जा सकती है; न संकल्प-मात्रसे दोनों में-से किसीको छोड़ा जा सकता है—विना रचनाशोल व्यक्तित्वको पंगु किये····

क्या अच्छा है : कि आँखें हों, पर वाणी लड़खड़ाये, या कि वाणी हो पर टाँगें लड़खड़ायें ?

'पोर्ट्रेट आफ़ द आर्टिस्ट—एज़ ए यंग डाग'

मालिकके साथ दौड़ते हुए कुत्तेको देखो : मालिकके चले हुए प्रत्येक मीलपर कुत्ता पाँच-छः मील चल लेता है—आगे, पीछे, इधर, उधर,

पड़ताल करता हुआ, प्रदेशको पहचानता और स्मरणार्थ चिह्नित करता हुआ।

कलाकारकी ठीक यही स्थिति है: किन्तु वह एक हीमें मालिक और कुत्ता दोनों है। एक स्तरपर वह सीधे सरल पथपर अग्रसर होता हुआ दूसरे स्तरपर खोजता-परखता, पड़ताल और पहचान करता और चिह्नित करके स्मृतिपर आँकता भी जाता है।

और तुलनाको और आगे बढ़ाना चाहे, तो वह एक साथ ही जहाँ अपने मुँहज़ोर कुत्तेको झिड़कता और अनुशासित करता चलता है, वहाँ दूसरी ओर ज़ंजीरपर झटके देता हुआ मालिककी ओर दुम भी हिलाता जाता है।

कुछ है जो केवल मालिक है : सीधी तरह चलते है और 'क' से 'ख' तक पहुँच जाते हैं। बीचका रास्ता उन्होंने देखा और पहचान लिया है, यह वे स्थिर भावसे जानते हैं; 'क' से 'ख' की दूरीकी माप उनके पास है।

कुछ हैं जो केवल कुत्ते हैं। सीधी छोड़ सभी राहें चल लेते हैं। 'क' से 'ख' तक उनका पहुँचना हो गया है, इसीसे वे 'क' से 'ख' तक गये यह कहना कठिन होता है। रास्ता वे शायद नहीं जानते, वे प्रदेश जानते है जिसमें 'क' 'ख' से मिला हुआ है।

कलाकार मालिक और कुत्तेको एक करता है। इस प्रकार वह रास्तेको प्रदेशमें बिठा देता है। वह 'क' और 'ख' को न मिलाता है न अलग करता है : वह उनके अलगावको एक सूत्रमें पिरो देता है।

मानव एकाकी

मानव सभी एकाकी हैं, यद्यपि सदैव, सभी कालोंमें नहीं। किन्तु काल पूर्वापर होनेके साथ-साथ समवर्ती भी है : जो कभी भी था, या

कभी भी होगा, वह इस समय भी है। अतएव प्रत्येक मानवका एक अंश सर्वदा एकाकी होता है।

यह एकाकी अंश ही प्रेमका अनुभव कर सकता है; शेष मानव तो केवल कामना करना जानता है। और इसी लिए त्याग भी यह एकाकी ही कर सकता है, शेष मानव नहीं।

जिससे यह सिद्ध होता है कि मानवका जो अंश सर्वाधिक असम्पृक्त, अनासक्त है, वही सबसे अधिक सहता है, वही सबसे अधिक तीव्रतासे अपने अस्तित्वका अनुभव करता है—वह अंश ही सबसे अधिक वह मानव है।

अमरत्वका क्षण

अमरत्वका अर्थ अनन्त काल तक जीवित रहना नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो अनन्त काल तक मरते रहनेका ही दूसरा नाम है। अमरत्व तभी सार्थक है जब वह काल-निरपेक्ष हो—अर्थात् जब वह एक अनुभूति हो, एक मनोदशा हो, एक दृष्टि हो।

या तो मैं इस क्षणमें अमर हूँ, या कभी नहीं हूँ।

'जीवित क्षण'

कलामें 'जीवित क्षण'को पकड़नेके बारेमें आजके कलाकारकी जो व्यग्रता है, उसकी जड़में क्या केवल यह बात नहीं है कि इस प्रकार उस क्षणके परिणामोंसे बचनेकी इच्छाको एक तर्क-संगति दी जा सकेगी?

अनुभूतिकी आत्यन्तिकताके आग्रहके पीछे, कहाँ तक अनुभूतिका मूल्य चुकानेकी अनिच्छा छिपी है?

वरणकी स्वतन्त्रता

मेरी वेदना ही मेरी स्वतन्त्रताका प्रमाण है। यदि मुझे स्वतन्त्र

निर्वाचनका अधिकार न होता तो मुझे वेदना भी न होती : क्योंकि या तो मै निर्विकल्प भावसे वही कर्म करता जो सही है, या निर्विकल्प भावसे उसे स्वीकार करता जो सही नहीं है।

मेरी विकल्प और वरणकी स्वतन्त्रताका और क्या प्रमाण है सिवा मेरी वेदनाके—सिवा उस कष्टके जो मुझे अपने अधिकारका उपयोग करनेमे होता है ?

स्वतन्त्र या नगण्य

क्या मैं इस लिए स्वतन्त्र हूँ कि मैं नगण्य हूँ, कि मेरा कोई मूल्य नहीं है ?

स्वातन्त्र्य और नरक

नरक क्या है ?

व्यक्तिका निजी विवेक—आत्मा।

स्वातन्त्र्य क्या है ?

व्यक्तिका निजी विवेकका अधिकार।

होनेके आयाम

प्रेमके आयाममे मै जानता हूँ कि जो प्रेम करता है वह अकेला है।

दुःखके आयाममें मैं जानता हूँ कि जो दुःख भोगता है वह अकेला है।

संवेदनाके दूसरे आयामोंमें भी क्या मैं नहीं जानता कि उस आयामका अनुभावक भी अकेला है ?

अर्थात् : क्या होना मात्र अकेला होना नहीं है ?

नाटक और संघर्ष

नाटक····संघर्ष····हाँ, किन्तु किसके और किसके बीच ? किसके विरुद्ध किसका प्रयास ?

भाग्य और व्यक्तिका द्वन्द्व ? उसमें जो कुछ रस था यूनानियोंने सदियों पहले निचोड़ लिया।····सामाजिक परिवेशसे व्यक्तिका द्वन्द्व ? दो दुनियाओंके मरभुक्खोंने जल्दी-से-जल्दी फ़सलें उगाकर काटनेके लालचसे इस भूमिकी उर्वरा-शक्ति ही नष्ट कर दी, और अब उसमें साहित्यके धान की बजाय मतवादोंके काँटे उपजते हैं।····व्यक्तिका अपने-आपसे द्वन्द्व ? पिछले चालीस-एक वर्षसे, जबसे फ़्रायडने हमें यह नया स्वाद लगा दिया, हम अपनी अँतड़ियाँ चबाते रहे हैं और वे ताँतके गुंझर भर रह गयी हैं····

और इसके बाद रह जाता है व्यक्ति और उसके विवेकका द्वन्द्व—उस सहजात बुद्धिसे द्वन्द्व जो बताती है कि जीवनमें कोई अनिवार्य, अमोघ कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है—कोई पहचानी जा सकनेवाली कारण-कार्य-परम्परा नहीं—कि अस्तित्व-मात्र अनिश्चित और नियम-विहीन, बेमानी, उबाने वाला, उबकाई लाने वाला है····

किन्तु यदि अस्तित्व बेमानी है, तब उसमें अन्तर्हित संघर्ष भी बेमानी है। तब वह संघर्ष नाटकको अर्थ कैसे दे सकता है ?

संघर्षसे परे अस्तित्व

पर एक और भी परम्परा थी जो कहती थी : संघर्ष मिथ्या है क्योंकि विरोधकी स्थिति मिथ्या है—तनावोंके शमनकी स्थिति ही स्थिति है। दुःख, व्याधि, वैषम्य, मरण—इनको देखना अधूरा देखना है; क्योंकि ये सब स्वयं अधूरे हैं। जो न केवल इनके पार देख सकता है वरन् जिसकी दीठ अचंचल भावसे इनके पारकी सम, सन्तुलित, समाहित शिवतापर टिकी हुई है, वही नाटक लिखनेका अधिकारी है····वह द्रष्टा है, वह क्रान्तदर्शी है····अस्तित्वके बेमानी होनेसे संघर्ष बेमानी हो जाता है, पर संघर्षके बेमानी होनेसे अस्तित्व बेमानी नहीं होता—बल्कि संघर्षसे परे अस्तित्व ही तो सार्थकता है—स्वयं अर्थ है····

दुःख और करुणा

दुःख यदि मिथ्या है, तो क्या करुणा भी मिथ्या है, समवेदना भी मिथ्या है ?

हमारे समाजमें दूसरेके दुःखके प्रति जो दोहरी प्रवृत्ति देखनेमें आती है, उसकी जड़में क्या यही भाव नहीं है ?

सामाजिक रूपसे हम दुःख-क्लेशके प्रति निष्करुण भावसे उदासीन हैं—क्योंकि दुःख तो असत्य है, माया है....पर व्यक्तिगत रूपसे हम दान-पुण्य करते है, दया धरमका मूल मानते हैं—क्योंकि दुःख ही नहीं, यह जीवन, यह लोक ही मिथ्या है और हमें अगले जीवनके, परलोकके लिए अपनी व्यवस्था करनी है !

रचना-शीलता

वैषम्य या संघर्षका बोध अपने-आपमें रचनाशील नहीं होता; वह तभी रचनाशील हो सकता है जब मूलभूत नियमको पहचाना जाय ।

दुःख भोगना रचना करना नहीं है, यद्यपि रचना करनेके लिए दुःख भोगना आवश्यक है । दुःखसे जो उन्मेष होता है वही रचना-शील होता है ।

करुणाका स्रोत

करुणाका स्रोत केवल दुःख नहीं है, दर्द नहीं है; उनकी यथार्थताका सैद्धान्तिक प्रत्यय भी नहीं है ।

मैं और ममेतरका जीवन्त, तात्कालिक, रागाविष्ट अनुभव ही करुणाका स्रोत हैं । वह अनुभव ही दुःख है और उसकी उत्कटता ही दर्द ।

उस अनुभवके प्रति खुले रहना करुणाके लिए खुले रहना है; जितना ही वह व्यापक है या गहरा है, उतनी ही करुणा भी व्यापक या गहरी है ।

चरम उपलब्धि

ईश्वरने अन्धकारमें न-कुछसे सृष्टि की ।
अतः सृष्टिका मूल रहस्य क्या है ?
—न कुछ ।
ईश्वरने चित्से सृष्टिकी कल्पना की ।
अतः सृजनका मूल रहस्य क्या है ?
—चित् ।
ईश्वरने अपने तपनकी पीडासे सब कुछ रचा ।
अतः मूल रहस्य क्या है ?
—पीडा ।
सृष्टिको रचकर उसे अपनेसे अलग करके
ईश्वरके पास क्या बचा ?
—आनन्द ।
अतः मूल रहस्य क्या है ?
—आनन्द ।
किन्तु
ईश्वरसे अलग होकर
आनन्द ईश्वरको सौंपकर
मानवके पास क्या बचा ?
—स्वातन्त्र्य ।
अतः चरम उपलब्धि क्या है ?
—स्वातन्त्र्य ।

स्वर्ग और नरक

स्वर्ग और नरक, जीवनके जनाकीर्ण महाद्वीपके सीमावर्ती दो शून्य प्रदेश हैं ।

इतनी संवेदना ही कितनोंमें है कि वे स्वर्ग या नरककी पात्रता पा सकें ?

बलिका अधिकार

क्यों, जब-जब मैंने पूछा है कि मैं किसकी बलि दूँ, तब-तब तेरा उत्तर एक प्रश्न हुआ है : 'तू किसे अधिक चाहता है ?'

एक विकृत उपपत्ति : अगर मैंने किसीकी बलि देनेका निश्चय कर ही लिया है; तो मुझे केवल अपनेको यह विश्वास दिलाना शेष रह जाता है कि मैं उससे प्रेम करता हूँ ।

सर्वसत्तावादी स्वतन्त्रतासे कितना प्रेम करते हैं !

मूल्य

उपलब्धिके विना मूल्य नहीं है । किन्तु मूल्य केवल उपलब्धिमें नहीं है, वह उस गहराईमें भी है जिसपर उपलब्धि हुई हो ।

प्रत्येक वस्तु जो अपनी माप है उस गहराईकी भी माप है जिसमें उसकी रचना हुई ।

प्रतीकका महत्त्व

महत्त्व या मूल्य प्रतीकका या प्रतीकमें नहीं होता; वह उससे मिलने वाली अनुभूतिकी गुणात्मकतामें होता है ।

सत्यकी सत्यता

सत्य इससे कम सच्चा नहीं हो जाता कि उसे थोड़े लोग जानते हैं । पर सत्य इससे झूठा हो जा सकता है कि उसे हर कोई जानता है ।

संस्कृति और कला

संस्कृति क्या है ?

सारे समाजका पुंजित अनुभव रचनामे लगनेपर उससे जो आनन्दमयी सृष्टि होती है वही संस्कृति है। अगर वह सृष्टि नहीं है तो संस्कृति नहीं है; अगर आनन्दमयी नहीं है तो भी वह संस्कृति नहीं है। और अगर उसका आधार पूरे समाजका अनुभव—समाज-व्यापी सत्य—नहीं है तो भी वह संस्कृति नहीं है।

समाजके अनुभवका वहन करनेके लिए व्यक्तिका संस्कारी होना आवश्यक है। संस्कृति दीक्षा और अनुशासन माँगती है। विना अनुशासन के संस्कृति टिक नहीं सकती : आनन्दोपभोगकी क्रियाका भी वह अनुशासन माँगती है। इन्द्रियोंके और मनके प्रशिक्षणमें, उपभोग्यके साथ-साथ विवेचनमें, पहचानने, परखने, विविक्त करने, मूल्य आँकने और निर्देश देनेमें अधिकाधिक अनुशासन ही हमें वन्यतासे संस्कृतिकी ओर ले जाता है, और संस्कृतिसे कलाकी ओर बढ़ सकनेका सामर्थ्य देता है।

पर कला····

एक बिन्दु ऐसा है जहाँ कलाका मार्ग संस्कृतिके मार्गसे अलग हो जाता है। संस्कृतिका आधार समाज है, उसका सत्य व्यापक सत्य है और उसकी दृष्टि भी तदनुकूल है। पर कलाका क्षेत्र विशिष्टका क्षेत्र है : उसका सत्य विशिष्ट, अद्वितीय और मौलिक सत्य है, और उसकी दृष्टि भी वैसी ही एक और अद्वितीय।

यह नहीं कि इस प्रकार कला हमें समाजसे काट देती है। बल्कि इसके प्रतिकूल साधारण अनुभवके आधारपर संस्कृति हमे तर्कनाके माध्यमसे ज्ञान देती है; विशिष्ट अनुभूतिके आधारपर कला हमें अन्तश्चेतनाके माध्यमसे बोध देती है। इस प्रकार कला भी ज्ञानका साधन है, पर इस ज्ञानकी कसौटियाँ विज्ञानकी कसौटियाँ नहीं है।

जिज्ञासाके स्तर

जिज्ञासाके तीन क्षेत्र या स्तर :
कार्य और कारणके सम्बन्ध, जिनका अनुसन्धान विज्ञान है;
साध्य और साधनके सम्बन्ध, जिनका शोध नीति-दर्शन है;
प्रतीक और अर्थके सम्बन्ध, जिनकी उपलब्धि धर्म अथवा अध्यात्म है।

और कला ?

आह कितनी सुन्दर है जिज्ञासा, कितना सुन्दर यह बोध कि उसके स्तर अनेक रहते भी मूलतः वह एक है;

कितना आनन्द है जिज्ञासाके समाधानमें—उस एकत्वकी उपलब्धिमें, जिसमें सब सम्बन्ध ही समाहित हो जाते हैं !

संस्कृति और अनुशासन

संस्कृति अनुशासन नहीं है : वह अनुशासनका सहज आभ्यन्तर बोध है।

संस्कृत व्यक्ति नियमको मानकर नहीं चलता; नियम उसके भीतरसे निःसृत होता है।

ईश्वरका प्रतिरूप

ईश्वरने मानवके रूपमें अपनी प्रतिमाका निर्माण किया। कुशल शिल्पी होनेके नाते उसने प्रत्येक प्रतिमा भिन्न और अद्वितीय बनायी; भिन्न होनेके कारण प्रतिमाएँ परस्पर प्रेम कर सकीं।

अब यन्त्रयुगमें मानव ईश्वरके रूपमें अपनी प्रतिमाका निर्माण करता है। उत्पादक होनेके नाते वह सभी प्रतिमाएँ एक-रूप और एक-प्रमाण

बनाता है; समान होनेके कारण प्रतिमाएं एक दूसरेसे केवल घृणा कर सकती हैं ।

व्यक्तित्वका शोध

अपनेसे भिन्न एक व्यक्तिके व्यक्तित्वका क्रमिक शोध और अनुसन्धान—इससे अधिक सुन्दर, प्रीतिकर और तृप्तिदायक अनुभूति क्या हो सकती हे ? यह शोध अत्यन्त कठिन है, इसीलिए वह इतनी तृप्ति भी देता है । किन्तु यह शोध अहेर नहीं है, 'पाने'से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है । अहेरीकी भावना लेकर पुरुष अथवा स्त्री व्यक्तिका 'पीछा' करना उस अनुसन्धान और शोधको आरम्भसे ही दूषित कर देना है, क्योंकि वह वास्तवमे खोज नहीं है, वह तो केवल पूर्वग्रह है क्योंकि वह उपलब्धि का रूप पहलेसे निर्धारित करके चलना है ।

क्या मानव जातिका शोध भी उतना ही तृप्तिकर और प्रेय हो सकता है ? क्या कोई यह नही कह सकता कि व्यक्तिको छोड़ो और सम्पूर्ण मानवको ही अपना लक्ष्य बनाओ ? किन्तु इस अर्थमे सम्पूर्ण मानवका अर्थ या अस्तित्व क्या है ? मानव जाति व्यष्टि इकाइयोंके योगसे अधिक क्या है ? संकल्पपूर्वक व्यक्तिके शोधका परित्याग, अपनी आत्माका पंगुकरण है, आंशिक आत्म-हनन है । क्योंकि व्यक्तिके शोधके परित्यागके बाद मानवका शोध सम्भव नहीं रहता—मानव व्यक्ति एक सत्य है, मानवता केवल एक उद्भावना ।

प्यार : दर्शन

मैं जब तुम्हारे सम्मुख घोषित करता हूँ कि मैं तुम्हें प्यार करता हूँ, तब क्या मैं वास्तवमें केवल अपनेको यह नही सूचित कर रहा होता हूँ कि

मैं तुम्हे इस विश्व-रूपी इकाईके ऐसे विशिष्ट अंगके रूपमें पहचान रहा हूँ जिसने एकान्त मुझे दर्शन दिया है, जो केवल मेरे समक्ष अवतरित हुआ है—इस विश्व-रूपी इकाईके जो इसी अर्थमे मेरी है कि मुझे उसके ममेतर होनेका बोध है ?····

फिर भी····तुम अवतरित हो इसका अर्थ यह है कि जहाँ तक तुम्हारा सम्बन्ध है मैं उस ममेतरत्वके बोधका भी परिक्रमण कर सकता हूँ—ऐसी अवस्थाएँ प्राप्त कर सकता हूँ जहाँ वह निरर्थक हो जाता है····

मैत्री : सत्यका आयाम

मैत्रीमें मैं मित्र नहीं खोजता, मैत्री भी मै नहीं खोजता; मैं केवल सत्य खोजता हूँ जिसका एक आयाम वह है ।

प्यार : आत्म-दान

जिसे तुम प्यार करते हो, या प्यार करनेका दावा करते हो, या समझते हो कि प्यार करते हो, उसके निकट तब तक न जाओ जब तक तुम्हारे पास देनेको कुछ न हो और देनेकी उत्कट अभिलाषा न हो ।

प्रियके पास केवल माँग लेकर जाना एक अलग व्यक्तित्वकी अव-हेलना है इसलिए असभ्य है, और आनन्दके सच्चे स्रोतकी अज्ञता है इसलिए असंस्कृत है ।

निःस्वार्थता

अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओंको सकल्प-शक्ति द्वारा दूसरेकी इच्छा अथवा आवश्यकताके अधीन कर देना सम्भव है । यही आत्म-बलि-दान है ।

संकल्प अर्थात् इच्छाशक्तिकी क्रिया होनेके कारण आत्म-बलिदान आत्म-हननका एक रूप है : वह आत्माको हीन, नीरस, वन्ध्य करता है।

निःस्वार्थता संकल्पकी क्रिया नहीं है, वह विकास और शिक्षाका फल है। उसमें कोई नकार या बलिदान नहीं होता, अतः वह आत्मदानको आनन्दमय बनाती है।

प्रेम और बलिदान

अगर प्रेमके लिए बलिदान करना सम्भव है; तो क्यों नही बलिदानके लिए प्रेम करना भी मम्भव है ?

बल्कि प्रायः तो हम यही करते है....

काश कि मैं अपने-आपसे कुछ अधिक प्रेम करता, क्योंकि तब मैं अपनेको बलिदानके लिए उपयुक्त महत्त्व और गौरव दे सकता !

अथवा मै अपनेको कुछ कम प्रेम करता—ताकि दूसरोंका बलिदान करनेमें मुझे द्विधा न होती !

यान्त्रिक उन्नति

यान्त्रिक उन्नति इसे क्रमशः सुगमतर बनाती जाती है कि मानव अधिकाधिक काम विना आत्मदानके कर सके।

अर्थात् वह क्रमशः अधिकाधिक मानवोंका अकेला होना अधिकाधिक सम्भव बनाती जा रही है, यदि वे यान्त्रिक उन्नतिपर ही निर्भर करते है।

यान्त्रिक उन्नति अपने आपमें दूषित नहीं है। वह मृत्युको सुगमतर बनाती है, इसका अर्थ यह नहीं है कि वह जीवनको असम्भव बनाती है।

किन्तु यान्त्रिक उन्नति आत्माको प्रेरणा नहीं देती, और वह प्रेरणा आवश्यक है। उस प्रेरणाके स्रोतकी खोज आधुनिक मानवकी खोज है।

शिक्षा और प्रतिमानीकरण

लोक-कल्याणका अर्थ जब परिस्थितियोंका प्रतिमानीकरण समझ लिया जाता है, तब शिक्षाका अर्थ भी मानसिक प्रतिक्रियाओंका प्रतिमानीकरण हो जाता है। तब हम परिस्थितिकी विशिष्टताको अरक्षित होना समझने लगते हैं, और भाव-प्रतिक्रियाकी विशिष्टताको अशिक्षित होना-या असामाजिक होना।

शिक्षा विवेचनकी परिपाटी देती है। जो शिक्षा विचार-शक्तिकी बजाय भावनाका नियमन करना चाहती है, वह सर्वसत्तावादकी चेरी है।

संस्कृति और प्रतिमानीकरण

हम जीवनके प्रतिमानकी बात करने चलते हैं, और जीवनका प्रतिमानीकरण करने चलते हैं।

हम सांस्कृतिक स्वातन्त्र्यको राजनैतिक मतवाद बनाना चाहते हैं, पर यह भूलते जाते हैं कि स्वतन्त्र रखनेके लिए संस्कृति तो प्रतिदिन कम होती जाती है। व्यक्ति-संस्कृति भी व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी भाँति दिन-प्रतिदिन आक्रान्त होती जा रही है....

सख्य

सख्य अथवा सम्पृवित मानसकी स्थिति है।

अकेलोंकी भीड़से अकेलापन नहीं मिटता, किन्तु अकेलेके आत्मदानसे मिट सकता है।

सम्बन्ध कारक

'तेरा', केवल 'तू'में सम्बन्ध कारक जोड़ देनेसे नहीं बनता, वह

'तू'के अस्तित्वका एक नया स्तर अथवा आयाम है, सम्बन्धकी एक अलग विभक्ति, एक स्वतन्त्र सत्य है।

अपनेको तुझे सौंपनेमें, ऐसा नहीं है कि मैं केवल अपनेको बदलता हूँ!

जीवन-मरण

मैंने इस जीवनमें जो भी प्रगति की, वह क्या इससे निरर्थक हो जावेगी कि इस जीवनके अतिरिक्त और कोई जीवन मेरा नहीं है—कि मेरा न पहले जन्म हुआ न फिर होगा?

क्या उस प्रगतिकी अर्थवत्ता इससे और भी कम न हो जायगी कि यह जीवन एक ऐसी कार्य-कारण-परम्पराकी केवल एक कड़ी है, जिसमें मैं जो इस जन्ममे करता हूँ वह उससे नियमित होता है जो मैंने पिछले जन्ममें किया, और उसे नियमित करता है जो मैं अगले जन्ममे करूँगा?

प्रगति क्या मेरी प्रगति है?

अमरत्व क्या मेरा अमरत्व है?

'मेरे' अमरत्वकी शर्तसे क्या मेरी बुद्धि, या मेरा सौन्दर्य-बोध परितुष्ट होता है?

प्रगति क्या हममें, हमारे द्वारा, आद्यकी, आद्या शक्तिकी, ईश्वरकी ही प्रगति नहीं है? क्या हमारा मर्त्य होना, मरणधर्मा होना, इसीलिए नहीं है कि हमारे द्वारा ईश्वर जीता रह सके?

उपनिषत्

'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'—अगर हम मर्त्य हैं तभी यह सत्य है कि जो कुछ है सब 'ईशावास्य' है, और तब कितना सत्य! उसके उच्छिष्टसे ही हम जीते हैं, उसीपर आधारित हैं: उसका स्वयं उत्सर्ग करना ही वह मुद्रा है जिसके द्वारा हम उसके समपदासीन होते हैं!

दावाग्नि

जगलमें आग लगी तो हम उसे बुझाने नहीं गये, हमने कुछ आगे बढ़कर पेड़ काट कर गिराने आरम्भ कर दिये कि शेष जंगल बच जाय ।

इस प्रकार जो पेड़ बच गये सो तो बच गये । जो जल गये सो भी, हाँ, जल गये । कदाचित् उनका जलना ही एक अविस्मरणीय दीप्ति छोड़ गया । किन्तु जो जले भी नहीं, पर बचे भी नहीं—जो जलने वालोंसे बचनेवालोंको अलग करनेके लिए काटकर गिरा दिये गये—उनका क्या ?

क्या ये हम बीचकी पीढ़ीके लोग भी ऐसे ही पेड़ है—जिन्हें काटकर फेंका जा रहा है कि भविष्यको दावाग्निसे बचाया जा सके ?

●